# जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग १३ किरण १

# THE JAINA ANTIQUARY

Vol. XIII No. I.

No-056849
Lo-42.13

*Edited by*

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S., D. L.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Sahityaratna.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Inland Rs. 3. Foreign 4s. 8d. Single Copy Rs. 1/8.

JULY, 1946.

# जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग १३ श्रावण किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी., डी. फिल.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, साहित्यरत्न.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३।) एक प्रति का १।।)

सन् १९४६ ई।

# विषय-सूची।


१ गोम्मटेश प्रतिष्ठापक—श्रीयुत प्रो० गो० खुशालजैन, एम० ए०, साहित्याचार्य ... १

२ चन्दवार या चन्द्रपाठ—श्रीयुत पं० जगन्नाथ तिवारी ... ... ७

३ विश्व-इतिहास और भूगोल के लिये जैन साहित्य की महत्ता—श्रीयुत बा० कामता-प्रसाद जैन, D.L., M.R.A.S. ...९

४ क्या भाष्य सोपज्ञ और उसके कर्त्ता यापनीय हैं ?—श्रीयुत पं० लालबहादुर शास्त्री ...१७

५ दि० जैन-संस्कृत-पूजा-साहित्य—श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न ३०

६ वेदविचार—श्रीयुत पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री ... ... ५१

७ मुलतान के श्रावकों का आध्यात्म-प्रेम—श्रीयुत अगरचन्द नाहटा ... ५७

८ विजयनगर राज्य का जैनधर्म के प्रति सद्भाव—श्रीयुत बा० त्रिवेणीप्रसाद बी० ए० ... ६२

९ पुष्पाञ्जलि-महाकाव्य—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ... ६६

१० श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में जैन महिलाओं के नाम—श्रीमती जी० के० जैन बी० ए०, साहित्यभूषण ... ७०

११ श्री जैन-सिद्धान्त-भवन आरा का संक्षिप्त वार्षिक विवरण—श्रीयुत बा० चक्रेश्वरकुमार जैन, B. Sc., Ex—M. L. A. ७६

श्रीजिनाय नमः

# जैन सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १३ | जुलाई, १९४६। श्रावण, वीर नि० सं० २४७२ | किरण १

## गोम्मटेश प्रतिष्ठापक

[ ले०—श्रीयुत प्रो० गो० खुशालजैन एम० ए०, साहित्याचार्य, आदि ]

दीपक की लौपर प्राण निछावर करने वाला पतंग ही दीपक की उपेक्षा नहीं करता है, अपितु मनुष्य इस प्रवृत्ति में उससे बहुत आगे बढ़ा हुआ है। वह संसार के अनेक सुकृत्यों से लाभ उठाता है किन्तु उनके कर्त्ताओं की कमी भूले भटके भी चर्चा नहीं करता है। यही कारण है कि हम वीरता के अवतार पुरुनन्दन बाहुबलि की मूर्ति को देखते ही उसकी प्रशान्त नासादृष्टि, संसार की उपेक्षा के द्योतक ओष्ठ तथा सकल विघ्न बाधाओं और कष्टों को चुनौती देने वाले विशाल वक्षस्थल तथा भुजदण्डों पर मुग्ध हो जाते हैं। मूर्ति के गुण गाते हैं, मूर्तिमान के जीवन को स्मरण करके अपने जीवन की अनेक गुत्थियों को सुलझाते हैं। किन्तु भूलकर भी उस मातृभक्त, जिनशासन प्रभावक तथा महा कर्त्तव्य परायण मंत्रिवर चामुण्डराय का स्मरण नहीं करते हैं, जिसके अनन्य मातृस्नेह और अडिग जिन भक्ति का मधुर मिश्रण श्रवणबेलगोलास्थ १००८ बाहुबलि (गोम्मटेश) का रूप धारण करके उसे युग युग तक अमर बनाये हैं।

स्थान—महीसूर (मैसूर) ईसा की चौथी शती के लगभग वर्तमान मैसूर राज्य महीसूर नाम से ख्यात था। इसी शती में इस देश में दीदिग कोङ्गनीवर्मन ने आचार्य सिंहनन्दिकी[1] सहायता से अपनी राजसत्ता जमायी थी। यद्यपि इस वंश के शिलालेख कोङ्गनीवर्मन को सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी कहते हैं तथा इसी आधार पर इतिहासज्ञ इनके इक्ष्वाकुवंशी होने का भी भी अनुमान करते हैं तथापि यह निश्चित है कि यह वंश उत्तर भारत में गंगा के आसपास के किसी स्थान से दक्षिण भारत गया था। क्योंकि इनकी छत्रछाया में आते ही महीसूर देश

१. मैसूर-मद्रास प्रा० जै० स्मा० पृ० १४६-७।

गंगवाडी नाम से ख्यात हुआ। शिलालेखों से यह स्पष्ट है कि इश वंश के स्थापन,[१] परिवर्द्धन और संरक्षण में जैनियों का पर्याप्त हाथ रहा है। वंश प्रतिष्ठापक कोङ्गनीवर्मन महाराज आचार्य सिंहनन्दि के आशीर्वाद के साथ ही सिंहासन पर बैठे थे[२]। इस वंश के लिये ८ वीं और ९ वीं शती दुर्भाग्य के दिन थे। इस अन्तराल में वेङ्गी के चालुक्यों तथा मालखेड के राष्ट्रकूटों के आक्रमणों से राज्य ही ध्वस्त नहीं हुआ था अपितु गंगराजाओं को विजेताओं का बन्दी बनकर रहना पड़ा था। राजमल्ल प्रथम ने वंश की प्रतिष्ठा बढ़ाने का प्रयत्न किया था किन्तु राष्ट्रकूटों के मारे उनकी एक भी न चली थी। किन्तु महाराज मारसिंह द्वितीय के राज्यकाल में हम देखते हैं कि इस वंश ने चेर, चोल, पाण्ड्य तथा नोलम्बवाड़ी पर विजय पायी थी[३]। जब हम इस परिवर्तन के कारणों की खोज करते हैं तो हमारी दृष्टि वीरकेशरी चामुण्डराय पर पड़ती है।

वंश तथा समय—अपने चामुण्डराय पुराण की उत्थानिका में चामुण्डराय अपने को जगत् पवित्र ब्रह्मक्षत्रिय वंश में उत्पन्न हुआ[४] कहते हैं। श्रवण बेलगोलाके शिलालेख[५] भी इसी बात की पुष्टि करते हैं। उन्होंने अपने माता पिता का भी नाम से निर्देश नहीं किया है; बाहुबली चरित्र में इनकी माता का उल्लेख कालिका देवी के नाम से मिलता है। इसी प्रकार उनकी जन्म तिथि का भी कोई उल्लेख नहीं मिलता है। इतना निश्चित है कि इनके पिता तथा पूर्वज गंगवंश के श्रद्धाभाजन राज्याधिकारी[६] रहे होंगे इनका जीवन काफी लम्बा था। वे महाराज मारसिंह तथा राजमल्ल द्वितीय के प्रधान मंत्री थे। अर्थात् ९६५ ई० से ९९६ ई० तक चामुण्डराय गृहस्थाश्रम में ही थे और पूर्णरूप से राज्यभार सम्हाले थे।

शिक्षादीक्षा—जैन साहित्य चामुण्डराय को जन्मना जैन बताता है। ऐसा होना सर्वथा संभव भी है, क्योंकि शिलालेखों से इनकी माता का जैनी होना निर्विवाद रूपसे सिद्ध है[७]। तथापि आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के "सो अजियसेणणाहो जस्स गुरु[८]" निर्देश ने इतिहासकारों को ऐसी कल्पना करने के लिए प्रलुब्ध किया है कि आचार्य अजितसेन ने उन्हें जिन धर्म में दीक्षित किया था। वास्तविकता यह है कि आचार्य अजितसेन चामुण्डराय के

१. "गंगराज्य माडिद···।" ए० कर्ना० प्र० शि० सं० ११०
२. स्वस्तिश्रीमत्कोंगुणिधर्म्ममहाधिराजप्रथम गंगस्य···। ए० कर्ना० पृ० ३
३. श्रवणबेलगोला के शिलालेख भूमिका पृ० १८ शि० सं० १८, ए० इ० प्र० ५ शि० १८।
४. "जगत्पवित्र ब्रह्मक्षत्रिय वंशभागे ··" चा० पु० पृ० ५।
५. श्रव० शि० पृ० ८५, ए० कर्ना० पृ० २ शि० सं० २८१।
६. एम० वी० कृष्णराव रचित तालकाडका गंगवंश (मद्रास)
७. जैन शि० संग्र० प्र० २३-२८।
८. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा सं० ६६६।

दीक्षा (व्रतादिके) गुरु थे। मंत्रिवर चामुण्डराय की शिक्षा के बारेमें इतना निर्विवाद है कि उन्होंने आचार्य अजितसेन से सब गुणों को ग्रहण किया था[1]। तथा आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने भी इन्हें शिक्षा दी थी[2]। वे अपनी मातृभाषा कन्नड में ही पारंगत न थे अपितु उनका संस्कृत तथा प्राकृत का पाण्डित्य भी प्रगाढ़ था जैसा कि इन भाषाओं में उपलब्ध उनकी कृतियों से स्पष्ट है।

कुटुम्ब—ऊपर देख चुके हैं कि इनकी माता पुण्यश्लोका कालिकादेवी थीं। चामुण्डराय को अपनी माता से कितना स्नेह था इसका अनुमान केवल इसी एक घटना से लगाया जा सकता है कि वे अपनी माता की दर्शनेच्छा को पूर्ण करने के लिये वन, वन घूमे और अन्त में श्री १००८ बाहुबलि स्वामी की मूर्ति को पाकर ही रहे। इनकी श्रीमती अजिता देवी थी। इस परम धार्मिक दम्पती को एक पुत्र रत्न भी प्राप्त हुआ था। जो अपनी योग्यताओं के कारण यथार्थनाम देवन था।

विजय—वीरवर चामुण्डराय के सैनिक जीवन का प्रारम्भ बड़ा साधारण था। किन्तु गुणों के पारखी महाराज मारसिंह द्वितीय ने एक युद्धयात्रा में ही यह देख लिया था कि यदि गंगवंश की प्रतिष्ठा का संरक्षण और संवर्द्धन भावी है तो वह युवक चामुण्डराय की तलवार से ही होगा। श्रवण बेलगोला के शिलालेखों[3] तथा चामुण्डराय[4] पुराण के प्रारम्भ तथा अन्तिम अध्याय में चामुण्डराय ने अपनी विविध उपाधियों का निर्देश ही नहीं किया है अपितु वे किस, किस उपलक्ष्य में उन्हें प्राप्त हुई थीं इसका भी वर्णन किया है:—

१ समरधुरन्धर—खेडग युद्ध में अपने स्वामी तथा इन्द्र (चतुर्थ, पौत्र कृष्ण तृ०)[5] की आज्ञा से पाताल मल्ल के भाई बाजल्लदेव को हराने पर वे समरधुरन्धर की उपाधि से भूषित हुए थे।

२ वीरमार्तण्ड—नोलम्बवाडी (गोन्दर) का युद्ध ऐसा दारुण था कि इस विजय के बाद महाराज ने स्वयं 'नोलम्ब कुलान्तक' विशेषण अपने नाममें जोड़ा था तथा सेनापति चामुण्डराय को 'वीरमार्तण्ड' पद से भूषित किया था।

३ रणरंगसिंह—उच्छङ्गी के किले पर डाले गये सफल घेरेके कारण उन्हें यह उपाधि प्राप्त हुई थी।

---

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा सं० ७३३।
२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा सं० ९६७।
३. 'त्यागद्ब्रह्मदेव स्तम्भ शिलालेख' अ० शि० पृ० ३४, ८५।
४. चामुण्डराय पुराण ( कर्ना० साहित्य परिषद् बैङ्गलूर )
५. ए० इ० पृ० ५ शि० सं० १८।

४ वैरीकुल कालदण्ड—जिस समय त्रिभुवनवीर के पराक्रम के कारण गोविन्दराज को वामलूर गढ़ का जीतना असंभव हो गया था, तब वीरवर चामुण्डराय ने शत्रु के रणकौशल को ही व्यर्थ न किया था अपितु उसे यमलोक भेजकर गोविन्द को सुख से गढ़ में प्रवेश कराकर यह पदवी पायी थी।

५ भुज विक्रम—सामन्तराज काम के गढ़ में जिस समय चामुण्डराय ने राजा को हराया था उस समय गंगराज सभा में वे 'भुजविक्रम' पद से जम्मानित किये गये थे।

६ चलदङ्कगङ्ग—इसी सामन्त के छोटे भाई नागवर्म को मारकर उन्होंने इस उपाधि को प्राप्त किया था।

७ जिस समय वे विद्रोही गंगभट मुदु राचय्य की इहलीला समाप्त करके लौटे थे उस समय राजसभा ने उनका 'समर परशुराम' तथा 'प्रतिपक्ष राक्षस' कहकर अभिनन्दन किया था।

८ इसी प्रकार किसी विद्रोही सेनापति वीर के किले को मिट्टी में मिला देने पर वे 'भटमारि' नाम से सम्बोधित हुए थे।

चामुण्डराय की ये विजयें कवि की कल्पना ही नहीं हैं। वे उस समय पैदा हुए थे जब राष्ट्रकूटों और चालुक्यों की प्रतिद्वन्दिता तथा शक्ति के क्षणिक ह्रास के कारण दक्षिण भारत साहसी सेनानायकों की महत्वाकांक्षा की पूर्ति में साधक हो रहा था। अतएव चामुण्डराय ऐसे स्वामिभक्त, कर्त्तव्यपरायण तथा निःस्वार्थ सेनापति को अनेक युद्ध करने पड़े तथा अपने नैतिक बल और रणकौशल के कारण सदा विजयी हुए तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

चामुण्डराय की विजयों के वर्णन को देखकर ऐसा लगता है कि वे कोई कर्कश सेनापति रहे होंगे किन्तु उनकी अन्य उपाधियाँ हमारी संभावना को निराधार कर देती हैं:—

९ वे अपनी पवित्रता, उदारता, आदि विशेषताओं के कारण 'सम्यक्त्वरत्नाकर', पर स्त्री तथा परसम्पत्ति को न छूने के कारण 'शौचाभरण' सदा सत्य बोलने के कारण सत्य-युधिष्ठिर, स्वयं स्थिर रहने तथा दूसरों का स्थितिकरण करने के कारण 'गुणवङ्काव' तथा वीरों के अग्रणी होने से 'सुभट चूड़ामणि' नामों से गंग राजसभा में ख्यात थे।

नैतिक राजनीतिज्ञ—उपर्युक्त विजयवर्णन तथा गुणशालिता से स्पष्ट है कि गंगवंश की प्रतिष्ठा तथा राज्य को चामुण्डराय ने ही बचाया था। उनके प्रभाव तथा प्रसिद्धि के सामने गंग राजाओं का व्यक्तित्व फीका पड़ गया था। वे वास्तविक शासक होते हुए भी वादिराज के सत्यंधर या शेक्सपियर के डंकन थे किन्तु जिनधर्मपरायण चामुण्डराय के मन में कभी काष्ठाङ्गार और मैकबैथ बनने की कल्पना भी न आयी थी। पाश्चात्य इतिहासकार[1] चामुण्डराय के आत्म-उत्सर्ग को देखकर दंग रह जाते हैं। उनके लिये चामुण्डराय की

१. तालकाडका गंगवंश पृ० १६१।

नैतिकता 'भयंकर आश्चर्यजनक' है। उनका उदात्त जीवन इस बातका साक्षी है कि किस प्रकार नैतिक पुरुष महा राजनीतिज्ञ भी हो सकता है। गंगवंश तथा राष्ट्रकूटों की प्रतिद्वन्द्विता ऐतिहासिक तथ्य है। किन्तु नीतिज्ञ चामुण्डराय ने दोनों वंशों के बीच संधि करादी थी[1]। परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही समय में गंगराज विद्रोहियों से ही शून्य न हुआ अपितु उसकी सीमाएं और प्रभाव भी विस्तृत हो गया था।

साहित्यकार—अधिकतर यही देखा जाता है कि योद्धा तथा राजनीतिज्ञ संसार को ललित कलाओं से अछूते ही रह जाते हैं. किन्तु चामुण्डराय इसके अपवाद हैं। उन्होंने अपने समकालीन समस्त विद्वानों को प्रश्रय दिया था तथा स्वयं भी साहित्य की रचना की थी। उनकी प्रथम प्रवृत्ति का ही फल था जो महाकवि रन्न सुललित काव्य गदायुद्ध को लिखकर ख्यात हो सके, और चालुक्य महाराज तैलप (९७३, ९९७ ई०) की राजसभा में भी सम्मानित हुए थे। महाकवि पम्प को भी राय का अभिभावकत्व प्राप्त था। जिसमें रहकर उन्होंने आदि पुराण, शत्रुभीमविजय, आदि अमर कृतियों को जन्म दिया था। कवि शिरोमणि नागवर्मने छन्दोम्बुधि की रचना तथा कादम्बरी का अनुवाद इसी राज सभा में किया था।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, अजितसेन तथा माधवचन्द्र त्रैविद्य तो चामुण्डराय की सभा के भूषण ही न थे अपितु उनके गुरू भी थे। इन तीनों आचार्यों की समस्त कृतियों का अविर्भाव वीरमार्त्तण्डकी तत्त्वबुभुत्सा को ही शान्त करने के लिये हुआ था। इस प्रकार चामुण्डराय के कारण ही आगम के दुरूह अंगों को देशी लौकिक साहित्य का रूप प्राप्त हुआ था।

संस्कृत तथा प्राकृत के विद्वान होने के कारण चामुण्डराय ने स्वयं भी सैद्धान्तिक तथा काव्यात्मक विषयों पर अपनी लेखनी सफलतापूर्वक चलायी है उनका चरित्रसार ग्रन्थ आज भी उनके सैद्धान्तिक पाण्डित्य को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। कर्मकाण्ड पर लिखी गयी देशी टीका[2] तो स्पष्ट ही बतलाती है कि धर्म शास्त्र के रूक्ष से रूक्ष विषयों को उन्होंने किस प्रकार हृदयंगम किया था। यही कारण है कि नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ऐसे वीतराग पुरुष को भी "सो राओ गोम्मटो जयउ।" कहकर उनका स्मरण करना पड़ा। उनका 'त्रिषष्ठि लक्षण पुराण' चामुण्डराय पुराण नाम से अधिक ख्यात है। यह ग्रन्थ कन्नड़ गद्यका सबसे प्रथम ग्रन्थ है। यद्यपि कवि परम्परा से आगत लेखक के प्रसाद और माधुर्य की झलक इस ग्रन्थ में पर्याप्त है तो भी स्पष्ट है कि यह कृति सर्व साधारण के उपदेश के लिये रची गयी थी। यद्यपि इसमें पम्प का उपयुक्त शब्द-अर्थ चयन, रन्नका लालित्य तथा बाण

१. जै० शि० सं० पृ० ७१।

२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा सं० ९७२।

का शब्द-अर्थ माधुर्य नहीं है तो भी इसका अपना सौष्ठव निराला ही है। इसमें जातक कथा की सी झलक मिलती है।

धर्मप्रभावना—शिला लेख 'स्थिर जिन शासनोद्धरणरादियोलोर'[1] कहकर चामुण्डराय का उल्लेख करते हैं। विन्ध्यगिरि और चन्द्रगिरि साधारणतया गंगवंशी राजा, और उनके धर्मगुरुओं के, तथा विशेष रूपसे चामुण्डराय के स्मारक हैं। आचार्य नेमिचन्द्रजी ने अपने कर्मकाण्ड की प्रशस्ति में "गोम्मटराय विणिम्मिय दक्खिण कुक्कड जिणो, पडिमावयणं, वज्जयणं जिणभवणं, तथा जेणुब्भिय थंभु।"[2] करके उनकी मंगल कामना की है। इसमें सन्देह नहीं कि 'प्रतिमा का मुख', वज्रमय ईषत्प्राग्भार मन्दिर अथवा स्तंभ, इनमें से एक, एक भी उनको अमर बनाये रहने के लिये पर्याप्त हैं। फिर 'दक्षिणकुक्कट' जिनका तो कहना ही क्या है। उनके वाम पार्श्व में उल्लिखित "श्री चामुण्डराजेम्···कर वियले।" मराठी शिलालेख तथा दक्षिण पार्श्व में अंकित "श्री चामुण्डराजम् माडिसिदम्···।" आदि कनारी तथा तामिल शिलालेखों[3] ने उन्हें संसार के अष्टम आश्चर्य का निर्मापक[4] बना दिया है। इस मूर्त्ति की प्रतिष्ठा कराके ही उन्हे 'राय' पदवी प्राप्त हुई थी। संग्राम विजय से प्राप्त समस्त उपाधियां धर्मविजय के उपलक्ष में मिली इस राय पदवी के सामने स्वयं ही फीकी पड़ गयी थी। यही कारण है कि उनके धर्मगुरुओं ने उन्हें 'राओ' करके ही स्मरण किया है। आज भी जब पर्याप्त समय तक गोम्मटेश के नयन, ओष्ठ, वक्षस्थल तथा पुष्ट भुजदण्डों से उत्तर कर चक्षु चरण-चञ्चरीक हो जाते हैं, तब शिलालेखों पर दृष्टि पड़ते ही युद्ध तथा धर्मवीर गोम्मटेश प्रतिष्ठा-पक चामुण्डराय के अविकल जीवन को जानने के लिये अन्तस्तल आकुल हो उठता है।

---

१. श्र० शिलालेख शि० सं० १३७।
२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा सं० ९६८, ६६, ७०, ७१।
३. हुल्श-तीन महान जैनमूर्ति शिलालेख ए० इ० प्र० ७ पृष्ठ १०८, ६।
४. इम्पीरियल गज़ैटियर ऑफ इण्डिया पृ० १२१।

# चन्दवार या चन्द्रपाठ

[ ले०—श्रीयुत् पं० जगन्नाथ तिवारी ]

जैन संस्कृति के अभी अनेकों स्थान अन्वेषकों की वाट जोह रहे हैं। यदि अन्वेषण किया जाय तो बहुत-से स्थानों का राजनैतिक एवं धार्मिक आदि विभिन्न दृष्टियों से बड़ा महत्व प्रकट होगा। अनेक जैन राजाओं ने विभिन्न स्थानों पर राज्य किया तथा जैन संस्कृति के मूर्त्तरूप जिनालय एवं जिन-प्रतिमाएँ स्थापित की हैं। दक्षिण भारत के जैन शासकों के अतिरिक्त उत्तर भारत में भी कई जैन शासक हुए हैं, जिन्होंने जैनधर्म के प्रचार के लिये जी-जान से प्रयत्न किया है। आज भी इतिहास उनकी गुण गाथा पुकार-पुकार कर बतला रहा है।

प्रस्तुत चन्दवार जैन शासकों की बहुत काल तक राजधानी रहा है। किम्बदन्ती है कि वि० सं० १००० से लेकर वि० सं० १६०० तक के छह सौ वर्ष के काल में दिगम्बर जैनियों का राज्य इस नगर में रहा है। वि० सं० १०५२ में चन्द्रपाल पल्लीवाल दिगम्बर जैन राजा हुआ, जिसका दीवान रामसिंह हारुल था। इन प्रतापी राजा चन्द्रपाल के नाम से ही इस नगर का नाम चन्दवार या चन्द्रपाठ पड़ा है। किम्बदन्ती यह भी सुनी जाती कि इससे पहले इस नगर का नाम असाइखेरा था। किम्बदन्ती[1] के इस कथन का समर्थन हिन्दी विश्वकोश से भी हो जाता है। विश्वकोश में चन्द्रपाल के सम्बन्ध में लिखा है कि "चन्द्रपाल—इटावा अञ्चल के एक राजा का नाम। यह असाइखेरा नामक दुर्ग के प्रतिष्ठाता थे।"

चन्दवार फिरोजाबाद से करीब ४ मील के फासिले पर जिला आगरे का एक छोटा सा कस्बा है। श्री० ब्र० शीतलप्रसाद जी ने "युक्त प्रान्तीय जैन स्मारकों में चन्द्रपाठ को एक एतिहासिक स्थान बतलाया है। वास्तव में यह स्थान जैन इतिहास में गौरव पूर्ण है, राजा चन्द्रपाल ने राज्य प्राप्त करने के बाद १०५३ में प्रतिष्ठा कराई तथा इनके द्वारा निर्मापित एक फुट अवगाहना की स्फटिक मणि की चन्द्रप्रभु भगवान की प्रतिमा फिरोजाबाद के मन्दिर में अब भी विराजमान है।

चन्द्रपाल राजा का दीवान रामसिंह हारुल जो लम्बकाञ्चुक अर्थात् लमेचू दि० जैन था, उसने वि० सं० १०५३ और वि० सं० १०५६ में कई प्रतिष्ठाएँ कराई हैं। चन्दवार के जैन मन्दिर में इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्त्तियाँ आज भी वर्त्तमान हैं। जिनके मूर्त्ति लेख निम्न प्रकार हैं—

१ देशी पाषण की बादामी रंग की तीन फुट की मूर्त्ति—सं० १०५६ अगहन सुदी ५ गुरौ तिथौ रमाद्य कान्त्यावलि कनकदेवः सुतः कोकः निर्मापितः।

२ देशी पाषाण की बादामी रंग की पौने तीन फुट की मूर्त्ति—सं० १०५३ वैसाख सुदी ३ रामसिंघ हारुल.....

१. देखें—हिन्दी विश्वकोश भाग ७ पृ० १७१।

३ देशी पाषाण की बादामी रंग की सवातीन फुट की मूर्त्ति—ऊँ मनु ···सं० १०५३ वैसाख सुदी ३ शुभौ मास वक प्रतिमानां माथुर मं प्यनिन्मुनमयः शुभ वंशद ···मवोद कुल वर सुकवि·····प्रतिष्ठापितम् ।

चन्दवार में ५१ जैन प्रतिष्ठाएँ हुई हैं। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में भी यह नगर जैन शासकों के आधीन था और वहाँ वि० सं० १४३८ ज्येष्ठ सुदी १५ को जैन प्रतिष्ठा हुई है। फिरोजाबाद के एक छिपैठी मोहल्ला के जैन मन्दिर के निम्न मूर्त्ति-लेख से यह बात स्पष्ट हो जाती है:—

**पाषण की श्यामवर्ण दो फुट की प्रतिमा—"सिद्धि" संवत् १४२८ वर्षे ज्येष्ठ सुदी १५ शुक्रे काष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे प्रतिष्ठाचार्य श्री अनन्तकीर्त्तिदेवा इन्द्र रामचन्द्रानन्दे कंचुकान्वये श्रीचन्द्रपाठदुर्गे निवासिनः राऊत गओ पुत्र महार जा तत्पुत्र राऊत हीतमो तत्पुत्र चुन्नीददेव तद् भार्या भट्टो तयोः पुत्र साधु तउवा सिंघ साधू जी** उणसी हेम प्रतिष्ठा कारापिता ।

इस मूर्त्ति लेख में चन्दपाठ दुर्ग निवासी महाराज गओ, उनके पुत्र हीतम और उनके पुत्र चुन्नीददेव, इन चुन्नीददेव की स्त्री भट्टो और इन दोनों के पुत्र साधु या साधुसिंह का स्पष्ट उल्लेख है। इससे सिद्ध होता है कि पन्द्रहवीं शताब्दी तक इस नगर के शासक जैन थे।

फिरोजाबाद के मोहल्ला अटावाले जैन मन्दिर के मूर्त्ति लेख से भी वहाँ का महत्त्व प्रकट होता है तथा चन्दवार की प्राचीनता और उसकी ऐतिहासिकता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—

**पाषाणमयी सफेद वर्ण की सवाफुट ऊँची प्रतिमा – संवत् १६६९ चैत सुदी १५ दिने शनि सतसहस्रकीर्त्ति श्री मूलसंघे सरस्वती गच्छे बलात्कार गणे कुन्दकुन्दाचार्य आम्नाय श्रीरत्न-कीर्त्ति उपदेशात् श्री दिगम्बर अग्रोतकान्वये गर्गगोत्रे सा० श्रीहरसाल मानसिंह···आदि ।**

इस प्रकार फिरोजाबाद और चन्दवार के मूर्त्ति लेखों से चन्दवार के सम्बन्ध में बहुत कुछ मालूम पड़ जाता है। यदि अन्वेषण किया जाय तो संभवतः यहाँ का एक खासा इतिहास तैयार हो जायगा। जैन अन्वेषक विद्वानों से नम्र अनुरोध है कि वे इस दिशा में प्रयत्न करें। आज के युग में वही जाति या समाज जीवित रह सकता है जिसका इतिहास जीवित है, जिसने अपने प्राचीन गौरव का पता लगा लिया है तथा जिसके पास अपना निजी साहित्य है। इतिहास और साहित्य के अभाव में कोई भी संस्कृति पनप नहीं सकती है। जिस प्रकार जैन विद्वानों ने महापुरुषों के इतिहास का निर्माण किया है तथा मूर्त्तिलेख, शिलालेख एवं दानपत्र आदि के द्वारा प्राचीन जैन संस्कृति की छान-बीन की है, उसी प्रकार ऐतिहासिक जैन स्थानों के अन्वेषण की बड़ी भारी आवश्यकता है। इन स्थानों की शोध करने पर अनेक जैन राजा, जैन सामन्त और जैन दीवानों का पता लगेगा।

—०—

# विश्व-इतिहास और भूगोल के लिये जैन-साहित्य की महत्ता।

[ ले०—श्रीयुत् बाबू कामता प्रसाद जैन, *D. L. M. R. A. S.* ]

विश्व इतिहास से अधुना मानव जाति का इस कल्पकालीन इतिहास अभिप्रेत है और मानव जहाँ २ रहा वहाँ का विवरण विश्वभूगोल का स्थापक है। इन दोनों विषयों में आधुनिक विद्वानों को शोध-प्रक्रिया अभी परिपूर्णता का दावा नहीं कर सकती। विद्वानों ने जैसी जो शोध की, वैसी ही उन्होंने अपनी धारणायें बनाईं। एक समय पाश्चात्य विद्वानों को ही शोध क्रिया का सारा श्रेय प्राप्त था—वे ही उस दिशा में एकमात्र कार्य करनेवाले पंडित थे; परन्तु अब समय बदला है। भारत में भी शोध और अन्वेषण कार्य को वैज्ञानिक रीति से करने वाले विद्वान् और संस्थायें दिखती हैं। वे ऐतिहासिक अन्वेषण के लिये सच्चे हृदय से उद्योगशील हैं। किन्तु पाश्चात्य विद्वानों की प्रणाली को ही अपनाये हुए हैं। यह ठीक नहीं है। पाश्चात्य विद्वानों का दृष्टिकोण हम से भिन्न है। पाश्चात्य जगत का इतिहास और भूगोल भारत के इतिहास और भूगोल से समता नहीं रखता। पाश्चात्य विद्वानों ने पहले-पहल विश्व-इतिहास का निर्माण 'बाईबिल' के आधार से किया था, जिसके अनुसार सर्व प्रथम मानव 'आदम' की उत्पत्ति ईसा से ४००४ वर्ष पूर्व प्रमाणित है। उस समय उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि उन्हें मानव का इतिहास आदि से लेकर तब तक का पूर्ण ज्ञात है। किन्तु उपरान्त भूगर्भ विद्या, पुरातत्त्व-विद्या आदि विषयों की खोज हुई और उनसे मानव इतिहास की प्राचीनता ४००४ ई० पूर्व से भी प्राचीन सिद्ध हुई। आज ईसा से हजारों वर्षों पहले की घटनाओं का उल्लेख इतिहासकार करते हैं। मिश्र देश के गुम्मट (Pyramids) जहाँ एक ओर ईसा से पाँच हजार वर्ष पहले बने घोषित किये जाते हैं, वहाँ दूसरी ओर शाल्डिया (Chaldea) और मेसोपोटामिया के सांस्कृतिक ध्वंशावशेष छै-सात हजार वर्ष ईस्वी पूर्व के बताये जाते हैं। आज भारतवर्ष में मोहनजोदड़ो, हरप्पा और चन्द्रहल्ली से उपलब्ध हुआ पुरातत्त्व भी ईस्वी पूर्व पांच-छै हजार वर्षों जितना प्राचीन घोषित किया गया है। ऐसी सूरत में पाश्चात्य विद्वानों के मत को सर्वथा निर्भ्रान्त मानकर उसके आधार से शोधकार्य का परिचालन करना खतरे से खाली नहीं कहा जा सकता। पाश्चात्य विद्वानों की विचार-सरणी में बहकर हमें भारतीय मान्यताओं और अनुश्रुतियों को ठुकरा नहीं देना चाहिये। भारतीय साहित्य में पुराणगत-साहित्य एक सीमा तक इतिहास को कोटि में आता है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र का समावेश इतिहास में ही किया गया है। ( 'पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं

धर्म्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतिहासः।' ) किन्तु भारतीय विद्वानों ने पुराणों की कथाओं और धर्म्मशास्त्रों की बातों को उतना महत्त्व नहीं दिया है, जितना कि देना चाहिये। स्व० जायसवालजी सदृश इने गिने ही भारतीय विद्वान् हैं जिन्होंने भारतीय पुराणों को महत्व दिया है। यह सच है कि हिन्दू पुराणों में विशुद्ध इतिहास ही सर्वथा नहीं है—उनमें अधिकांश रूपक अलंकृत भाषा के हैं जिनसे अद्भुद घटनाओं और देवी देवताओं का सृजन हुआ है। फिर भी, भारतीय इतिहासकार अनेक आधार से विश्व-इतिहास का निर्माण कर सकता है। भारतीय साहित्य की विशेषता एक बात में निर्विवाद है कि उसमें कोई भी ऐसा कथानक नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध हो कि भारत में पहले अनार्य लोग बसते थे और आर्य लोग भारत में बाहर से आये। किन्तु भारतीय विद्वान् पाश्चात्य मान्यता को ही श्रेय देते हैं। प्रस्तुत लेख में हमें जैन साहित्य की महत्ता विश्व-इतिहास के अध्ययन में दृष्टव्य है।

निस्सन्देह जैन साहित्य वैदिक साहित्य से विलक्षण है। जैन पुराणवार्ता इतिहास के अति निकट है। जैन पुराणों में अलंकृत (Pictographic) भाषा में लिखित रूपकों का अभाव है। उनमें आर्य जगत के महापुरुषों का वर्णन ओत-प्रोत है अथवा कर्म सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिये विश्वसनीय दृष्टान्तों का समावेश है। यदि हम अनेक आधार से विश्व-इतिहास का संकलन करने बैठें तो आधुनिक ऐतिहासिक मान्यता का प्रतिरूप-सा ही उनमें मिलेगा। जैन अङ्ग साहित्य में इतिहास और पुराण का समावेश है और वह अङ्ग साहित्य स्वयं भ० महावीर द्वारा ही निरूपित हुआ था। जैनपुराण उस अङ्ग साहित्य के आधार से ही रचे गये हैं। अतएव उनकी आधार परम्परा स्वयं भ० महावीर के समय से ही मानना उपयुक्त है। उनको उपरान्त की स्वतन्त्र रचना मानना भूल भरा है। प्रत्येक जैन पुराणकार ने अपनी कथावार्ता का मूल स्रोत भ० महावीर को बताया है और अपने पूर्वज पुराणकारों का भी उल्लेख किया है। ऐसी सूरत में जैनपुराणगत कथावार्ता का आधार ईस्वी पूर्व ५ वीं ६ ठीं शताब्दी में प्रचलित परम्परा ही माननी पड़ती है। खेद है, जैनों ने साहित्यिक अथवा ऐतिहासिक खोज के लिये कोई भी संगठित उद्योग नहीं किया है। सबही जैनपुराण और कथाग्रन्थ अभी प्रकाश में भी नहीं आये हैं। व्यक्तिगत रूप में इने गिने विद्वानों के किये गये प्रयत्न समुद्र में विन्दु के समान हैं। अतः जैनों का यह प्रथम कर्त्तव्य है कि वे एक संशोधक संस्था की स्थापना कर के शोध-खोज के कार्य को आगे बढ़ावें।

यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि जैन-पुराण-साहित्य में मानव जाति के इतिहास विषयक मूलतत्त्व विद्यमान हैं—इस कल्पकालीन मानव की आदिकालीन अवस्था से लेकर आज तक का इतिहास संकलित करने के लिये जैन पुराणों में पर्याप्त सामग्री बिखरी पड़ी है। इस रूप में ही जैन पुराणों की महत्ता आंकने में आती है। इतिहासकारोंसे यह छिपा नहीं

है कि अधुना मानव इतिहास का प्राङ् ऐतिहासिक काल (१) पाषाणयुग, (२) ताम्रयुग और (३) लोहयुग में विभक्त मिलता है। इन तीनों युगों में मानव जीवन सभ्य और सुसंस्कृत नहीं था—मानव प्रकृति का होकर ही जीवन-यापन कर रहा था। क्रमशः उन्नति करके मानव ने सभ्य और सुसंस्कृत जीवन यापन करना सीखा। अब पाठक, आइये जैनपुराणों के कथन को देखिये। जैन पुराण बताते हैं कि पहले इस दक्षिण भारत खंड में भोगभूमि का स्वर्णकाल था। इस क्षेत्र के भोग भूमियाँ मानव सुख से बिना श्रम के कालयापन करते थे। उनके जीवन की आवश्यकतायें कल्पवृक्षों से पूरी हो जाया करती थीं। मानव मानवी युगल आनन्द विभोर हो कालक्षेप करते थे। उनके घर सम्पत्ति नहीं थी; उनमें 'मेरे'—'तेरे' का भेदभाव नहीं था। बस, सन्तति के उत्तराधिकार का उनमें झगड़ा ही न था। भोग-भूमि की यह सुखद दशा क्या प्राकृतिक जीवन (Life according to Nature) का प्रतिरूप नहीं है? पाषाणयुग से लोहयुग तक का मानव प्रकृति के आश्रय में ही तो रह रहा था। उसका न अपना कुछ था और न उसे अपनी सम्पत्ति या सन्तति की फिक्र थी। जैन पुराण बताते हैं कि भोगभूमि की यह सुखद दशा क्रमशः बदली। कल्पवृक्षों का लोप हुआ—मानव को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये श्रम करना आवश्यक हुआ? पसीने की कमाई से मानव को मोह होना स्वाभाविक था। 'मेरा' और 'तेरा' का भेद मानव हृदय में जागृत हुआ। मानव-गृहस्थी मांड कर बैठा—'कुलों' में अखण्ड मानव समुदाय खंड-खंड हो बँट गया। व्यक्तिगत संपत्ति का मालिक जो बना था वही अब उसकी पत्नी थी—उसके बच्चे थे। उसके कुटुम्बी थे। कृषि आदि उद्यम उसने किये—कलाओं में वह निष्णात होता गया। चौदह 'कुलकर' अथवा मनु' हुये, जिन्होंने मानव को सभ्य सुसंस्कृत होने योग्य बनाया। आधुनिक इतिहास भी तो यही कहता है कि आधुनिक सभ्यता के आदि धुरंधरों ने विविध उद्यमों और कलाओं का आविष्कार कर मानवों को सभ्यता का पाठ पढ़ाया। पहले तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने मानव को कर्मभूमि के योग्य बना दिया। जैन उन्हीं को सभ्यता और संस्कृति का आदि स्रष्टा मानते हैं। इस प्रकार जैन पुराणों में मानव इति-हास के प्रारंभ का विश्वसनीय वर्णन मिलता है। जैन मतानुसार हम प्राङ्—ऐतिहासिक काल को निम्न लिखित युगों में विभक्त कर सकते हैं:—

(१) **भोगभूमि काल**—जिसमें मानव प्राकृतिक सुखी जीवन बिताता था। इस काल के अन्त में मानव इस योग्य बन सका था कि वह सभ्यता का पाठ पढ़ सके। पाषाण युग से लोहयुग तक के मानव को 'भोगभूमियां" कहा जावे तो अतियुक्ति नहीं।

(२) **कर्मभूमि का उदय काल**—जिसमें मानव ने सभ्य होकर असि-मसि-कृषि आदि कर्मों को करना सीखा और वह श्रमपूर्वक जीवन यापन करके सभ्य और संस्कृत हुआ। कर्मभूमि काल के प्रारंभिक अंश को पाँच भागों में बांटना ठीक दिखता है; यथा:—

(१) **अहिंसा संस्कृति का अरुणोदय काल**—जिसमें मानव ने सभ्यता और संस्कृति का पाठ पढ़ा और अहिंसाधर्म की शिक्षा ऋषभनाथ जी से ली। यह द्रष्टव्य है कि ऋषभदेव के अहिंसाधर्म का उपदेश देने के पहले ही मारीचि ने वानप्रस्थमत अहिंसेतर धर्मकी घोषणा की थी। किन्तु ऋषभदेव और उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती ने अहिंसा धर्म का महती उत्कर्ष किया था। अधुना इतिहासकार पूर्व भारत में (१) श्रमण और (२) ब्राह्मण दो भिन्न विचारधाराओं का उल्लेख करते ही हैं। जैनशास्त्र सारे आर्यखंड में पहले अहिंसा संस्कृति का ही आधिपत्य हुआ बताते हैं।

(२) **अहिंसा संस्कृति का अभ्युदयोत्कर्ष-काल**—जिसके अन्तर्गत श्री अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमति, पद्म, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त—इन आठ तीर्थङ्करों द्वारा अहिंसा संस्कृति का पूर्ण अभ्युदय हुआ था। अहिंसा का प्रयोग जीवन की प्रत्येक आवश्यकता में सफल सिद्ध किया गया था। मानव अहिंसादेवी की गोद में सुखी रहा था। जैन इतिहासकार विश्व साहित्य का अध्ययन करके इस जैन मान्यता को प्रमाणित करें, यह वाञ्छनीय है।

(३) **अहिंसा संस्कृति का अवसान काल** - दसवें तीर्थङ्कर शीतलनाथ के समय से अहिंसा संस्कृति के सूर्य को पाखंड रूपी राहु ने ग्रस्त कर लिया। अब तक ब्राह्मणवर्ग ब्रह्म में चर्य्या करता हुआ आत्मानुभूति में आनन्द विभोर था ब्राह्मण विद्वानों ने आत्मविद्या के ज्ञान से ओत-प्रोत काव्यों को रचा था। उनके काव्यों के रहस्य को जानने वाला समुदाय तब अहिंसासंस्कृति का अनन्य उपासक था। किन्तु शीतलनाथ जी के समय में वह शिथिलाचार का शिकार बना। ऋषि मुण्डशालायन ने परिग्रह-पोट को सिर पर उठाया—हाथी, घोड़ा, कन्या, सुवर्ण आदि का दान लेना उसने स्वीकार किया। अब से एक अन्य विचारधारा बह निकली, जिसमें 'आत्मा' नहीं, परिग्रह को—शरीर पुष्टि और इन्द्रिय-लिप्सा को प्रमुख स्थान मिला। यह विचारधारा ऐसी बलवती हुई कि "आत्मा" की बात लोग भूल से गये—धर्ममार्ग तब निर्जन—सूना सा हुआ। ग्यारहवें तीर्थङ्कर श्रेयांसनाथ के तीर्थ में हम उसकी प्रतिक्रिया हुई देखते हैं। श्रेयांसप्रभु ने अहिंसा संस्कृति का महत्व मानव को यद्यपि बताया, परन्तु मानव तो वासना के मद में मदहोश हो गया था। अभी तक वह मान और लोभ के चंगुल में उतना बुरा नहीं फँसा था, जैसे वह अब फँसा है। इसी समय हम संगठित रूप में प्रलोभन के वशवर्ती हुई मानवीय शक्तियों में घोर संघर्ष होता पाते हैं। भरत और बाहुबलि का अहिंसक युद्ध अहिंसासंस्कृति की विजय का प्रतीक था अरुणोदयकाल में; पर यह तो अहिंसा का अवसानकाल था। इसमें अश्वग्रीव और त्रिपृष्ठ से हिंसक युद्धों का श्रीगणेश हुआ दिखता है। क्या वह हिंसा-प्रगति का प्रतीक नहीं है? तारा का अपहरण

हिंसक-वासना की जीत का गीत नहीं है क्या? जैन पुराणों में इन सबका इतिहास पढ़िये।

(४) **हिंसक-प्रगति का काल**—श्रेयांसनाथ जी के पश्चात् श्रीमुनिसुव्रतनाथ जी के समय तक ऐसा मालूम होता है कि अहिंसेतर विचारधारा बलवती होती गई थी। बीच में धर्म की रक्षा करने के लिये तीन तीर्थङ्कर अर्थात् शान्ति, कुन्थु और अरह ने चक्रवर्तीपन भी धारण किया था। सारे लोक को दिग्विजय कर के उन्होंने धर्म-साम्राज्य की स्थापना की थी और अहिंसासंस्कृति के पुनरुद्धार का उद्योग किया था। किन्तु अहिंसा और हिंसा के इस संघर्ष में आखिर तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थ में हिंसा ही विजयी होकर निकली। वैदिक ऋचाओं का शब्दार्थ लगाया गया और हिंसक आहुति का विधान हुआ—मांस और सुरा के बिना कोरी कामनी का काययोग वासना को तृप्ति नहीं करता। परिणामतः हिंसक क्रियाकाण्ड और इन्द्रियवासनातृप्ति का बोलबाला हुआ। पर्वत और नारद का संवाद हिंसा और अहिंसा का संघर्ष था—शक्ति ने उसका निबटारा किया। राजा बसु में तब शक्ति केन्द्रीभूत थी। बसु ने जबान हिलाकर हिंसा को सिंहासन पर बैठाया। सत्य-शील-संयम का आसन क्षमाशील पृथ्वीमाता ने अपनी छाती में चीर कर रख लिया। उसकी प्रतिच्छाया क्षीण हुई श्रमण विचारधारा में झलकती रही! "महाभारत" की कथा और "सुत्तनिपात" का वर्णन भी तो यही बताता है कि पहले ब्राह्मणवर्ग अहिंसक-यज्ञ किया करता था, परन्तु उपरान्त वह पशुयज्ञों को करने में संलग्न हुआ। देश में तामसिक पाशविकता का प्राबल्य हुआ। लोक में मूढ़ता फैली। भूत-प्रेतों के भय से मानव घबड़ाया। पशुबलि देकर उसने उनको प्रसन्न करने का स्वांग रचा। पर्वत जैसे कठोर तामसी जीवों की पाँचों उँगलियाँ घी में हुईं। प्रतिष्ठा मिली और वासना की तृप्ति हुई। भूतों और यक्षों के आवास वृक्षों की भी पूजा और मान्यता होने लगी। वैदिक ऋचाओं की आत्मिक मान्यता का रहस्य दृष्टि से ओझल हो गया—उनके शब्दार्थ लगाये गये। इन्द्र, वरुण आदि देवता पूजे जाने लगे। यों प्रकृति की उपासना चल पड़ी। हिंसा खिलखिला कर हँसी, पर श्रमण इससे घबड़ाये नहीं। तीर्थङ्कर नमि और नेमि ने पुनः अहिंसा का झंडा ऊँचा उठाया। उनके समयों में कामिनी-कंचन और मद्य-मांस की वासना में लोक बहा जा रहा था। अहिंसा के इन महारथियों ने समय के उस प्रवाह को एक दम न बहने दिया—वह प्रवाह तितर-बितर हुआ। पुत्र और कामिनी का मोह मानव से छूटने लगा। नेमि ने बाड़े में घिरे पशुओं में विलबिलाती हुई युगवर्ती घोर हिंसा को देखा था। महाभारत-युद्ध में घटित मानव के नैतिक पतन का अन्यतम दृश्य उनकी आँखों के आगे नाचता था। मानव आत्मा का नहीं, अपने पार्थिव व्यक्तित्व का पुजारी हो रहा था। द्रोण ने अपनी मान-रक्षा के लिये पंचाल के दो

टुकड़े कर डाले। धर्ममूर्ति युधिष्ठिर सती द्रौपदी को जुए में दांव पर लगा बैठे। यादव सुरा-पान में अपने कुल का नाश कर बैठे। नेमि ने युग-प्रवाह को पलटने के लिये महान् अनुष्ठान किया। पुत्र और पत्नी ही जीवन की सार्थकता के लिए आवश्यक नहीं।[1] राजुल सी कमनीय कामिनी के प्रेम में वह नहीं फंसे। लोकोद्धारक जो थे वह। राजुल भी उनके पदचिन्हों पर चल कर लोक के लिये कल्याणकर्त्री हुई। मानव समाज में प्रतिक्रिया जन्मी। मानव विचारशील हुआ। भारत में उपनिषदों द्वारा आत्म-विद्या का प्रचार किया गया। भारत के बाहर भी यह प्रतिक्रिया अपना प्रभाव छोड़ गई। पारसी, यहूदी और यूनानी आदि भारतेतर प्राचीन दर्शन और मत प्रारंभ में अहिंसा-संस्कृति के ही पोषक थे। किन्तु उनके धार्मिक विधान अलंकृत-भाषा (Pictographic Language) में उसी तरह लिखे गये थे जैसे वेद काव्यमयी वाणी में गुम्फित थे। यह कोरा अनुमान नहीं है, बल्कि स्वयं उन मतों के पूर्वजों की वैसी मान्यता थी। ईस्वी पूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी में रचे गये 'अरिस्टियस के पत्र' (the Letter of Aristeas) में इस रहस्यमई भाषा का घूंघट उघाड़ा गया है। उसमें स्पष्ट कहा है कि संकेत रूप में आत्मशुद्धि की शिक्षा हमारे पूर्वजों ने दी है और संकेतों का रहस्य भी बताया है[1]। यहूदियों के पवित्र ग्रन्थ 'ज़ोहर' (Zohar) में एक अध्याय "गुप्त रचना" (the Concealed Treatise) शीर्षक का है और उसमें यहूदी संकेतों का रहस्य बताया गया है। उसमें स्पष्ट कहा है कि शब्दार्थ में धर्मग्रंथों के उपदेश और कथावार्त्ता को ग्रहण नहीं करना चाहिये। यूनानी तत्ववेत्ता सिकरो (Cicero) ने लिखा है कि "ऐसे विद्वान् हो चुके हैं जिन्होंने अलङ्कारों में रचनायें कीं कि शायद खुली भाषा में उनके भाव को भ्रष्ट किया जावे।" (There have been those who have written allegorically, Lest open speech should betray them.—The Influence of Greek Ideas & usages on the Christian Church, p. 84) यह सब उल्लेख यही बताते हैं कि प्रारंभ में आत्मज्ञान और अहिंसा संस्कार सारे लोक में व्याप्त थे। गुरुओं ने वह सत्य विज्ञान अपनी मान्यता के लिये अथवा अन्य किसी कारण से अलंकृत भाषा में लिखा। दुर्भाग्यवश एक समय ऐसा आया जिसमें अलंकारों का रहस्य ओझल हो गया और शब्दार्थ में हिंसा का विधान धर्मग्रन्थों के आधार से किये जाने लगा! वासना और पशुता इस काल में खूब थिरकी!

१. नेमि-निर्वाण के उपरान्त हुये ब्राह्मण ऋषि याज्ञवल्क्य हुए। उन्होंने पुरातन वैदिक परम्परा में सुधार उपस्थित किया। अपने "आत्मकाम" में उन्होंने पुत्र और कामिनी के प्रेम के साथ ही परमात्म प्रेम का समावेश किया। किन्तु श्रमण प्रतिक्रिया बलवान थी, जिसमें आसुरी व्यवस्था में परमात्म प्रेम ही सर्वोपरि माना गया।

१. Encyclo: of Religion & Ethics. Vol. XII, pp. 143-144.

(५) **ज्ञान के प्रतिशोध का काल**—किन्तु हिंसा का भयावह युग अधिक न चल सका। तीर्थङ्कर नमि-नेमि के उपदेश से प्रतिशोध की भावना लोक में व्याप्त हो गई थी। भारत में श्रमणों के अतिरिक्त ब्राह्मण परम्परा ने भी क्रियाकाण्ड की सार्थकता के लिये शुष्क ज्ञान और योगविद्या को अपनाया। पशुयज्ञों के साथही हठयोग को प्रधानता मिली। अलङ्कारों का सहारा लेने पर विवाद हुआ। अजातशत्रु और ऋषि बालाकि जो याज्ञवल्क्य के समकालीन थे उनमें परस्पर जो वाद हुआ, वह कुछ ऐसा ही था। बालाकि सूर्य में आत्मा का ध्यान करना उचित समझता था, पर अजातशत्रु सूर्य को प्रकृति का एक अङ्ग मानता था[1]। जनता में जिज्ञासा और शोध की भावना बलवती है। सूर्य की उपासना भी इसी समय चली प्रतीत होती है। जैन पुराण उसकी उत्पत्ति का प्रसंग तेइसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के पूर्व "भव-वर्णन" में करते हैं। पार्श्वनाथ जी का जीव आनन्दकुमार राजा था, जिसने अहिंसक जिन-यज्ञ किया और सूर्यस्थित जिनबिम्ब को नमस्कार किया। कहते हैं, तभी से उनकी देखा देखी जनता ने सूर्य को पूजना प्रारंभ कर दिया[2]। किन्तु उसके रहस्य को जनता न समझ पायी। सूर्योपासना का प्रचार ईरान वासियों में अधिक हुआ। संसारव्यापी "हीलियोलिथिक कलचर" इस उथल-पुथल के जमाने में पैदा हुआ और फला-फूला अनुमानित होता है। उसके द्वारा सूर्योपासना, हिंसक बलि और मंदिरनिर्माण की कला को प्रोत्साहन मिला। किन्तु प्रतिशोध के जमाने में वह अधिक चल न सका। तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ, भ० गौतम बुद्ध, भ० महावीर आदि श्रमण परम्परा के नेताओं द्वारा सत्य और अहिंसा का जयनाद हुआ। यूनान के तत्त्ववेत्ता भारत में आये और अहिंसा संस्कृति से प्रभावित हुए। अलङ्कारों का रहस्य उनको अपने धर्मग्रन्थों में दृष्टि पड़ा। जैन श्रमण अरब, ईरान और यूनान तक विचरे थे[3]। उनके द्वारा अहिंसा संस्कृति का प्रचार उधर हुआ। परिणामतः हम देखते हैं कि ईरान में जहाँ पहले करीब ६००० ई० पूर्व में जरस्तु प्रथम (Zoroaster I) द्वारा हिंसक बलिदान का विधान हुआ बताया जाता है, वहाँ जरस्तु द्वितीय (Zoroaster II—B. C) के उपदेश में अहिंसक बलिदान का ही निरूपण मिलता है। यहूदियों की प्रतिशोध का फल भी अहिंसा संस्कृति के अनुरूप था—वे अलङ्कारों का रहस्य जान गये। यूनान में पिथागोर (Pythagoras) एवं अन्य तत्त्ववेत्ताओं द्वारा अहिंसा

१. A History of Pre-Buddhistic Indian philosophy, pp. 151-152.

२. आनन्दकुमार अयोध्या का इक्ष्वाकूवंशी राजा था। उसीके निमित्त से 'सूर्योपासक' सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई जैन पुराण बताते हैं। देखो 'उत्तरपुराण' पार्श्वनाथ चरित्र पृ० ३२४, पार्श्वपुराण पृ० ५५, ( राजा जब सूर्य-स्थित जिन-प्रतिमा को नमस्कार करता तो देखादेखी प्रजा भी करती। 'समझैं नहीं मूढ़ परनये, भानु उपासक तब सौं भये।' )

३. सम्राट् सम्प्रति मौर्य के समय में इन देशों में जैन मुनियों का विहार हुआ था।

संस्कृति का ही विधान हुआ था[1]। इस प्रकार मानव इतिहास की मूल बातों को हम जैन पुराणों में बीजभूत पा लेते हैं। आवश्यकता है इस दिशा में वैज्ञानिक रीति से अन्वेषण करने की। तोभी जैनसाहित्य की महत्ता आँकने के लिये यह सूत्ररूप विवेचन निरर्थक नहीं है।

—(क्रमशः)

---

१. Jaina Antiquary, Vol. XI, pp. 14—19,

# क्या भाष्य स्वोपज्ञ और उसके कर्त्ता यापनीय हैं ?

[ ले०—श्रीयुत् पं० लालबहादुर शास्त्री, बनारस ]

श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमी जैन-समाज के पुराने इतिहास प्रेमी विद्वान् हैं। अपने सतत अध्यवसाय, अध्ययन और परिश्रम से आपने जैन इतिहास को बहुत कुछ दिया है। आपका 'जैनसाहित्य और इतिहास' नामक पिछले निबन्धों का संग्रह ऐतिहासिक सेवाओं का अमर प्रतीक है। अभी हाल ही में उमास्वाति के सभाष्य तत्त्वार्थसूत्र और उनके सम्प्रदाय को लेकर आपका एक लेख बम्बई से प्रकाशित होनेवाली "भारतीय विद्या" नामक पत्रिका में मुद्रित हुआ है। आपके लेख का सार है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित जो भाष्य है वह स्वोपज्ञ है और सूत्रकार दिगम्बर, श्वेताम्बर न होकर यापनीय सम्प्रदाय के थे। इन दोनों बातों के निर्णय करने में आपने कुछ दलीलें भी दी हैं, जिन पर विचार करना ही इस लेख का मुख्य विषय है। आप लिखते हैं :—

"भाष्य की प्रारंभिक कारिकाओं में और अन्य अनेक स्थानों में 'वक्ष्यामि' 'वक्ष्यामः' आदि प्रथम पुरुष का निर्देश है और निर्देश में की गई प्रतिज्ञा के अनुसार ही बाद में सूत्रों में कथन किया गया है। अतएव सूत्र और भाष्य दोनों के कर्त्ता एक हैं।"

श्रीयुत् पं० सुखलालजी ने भी भाष्य को स्वोपज्ञ सिद्ध करने में अपने हिन्दी तत्त्वार्थ-सूत्र की भूमिका में उपर्युक्त युक्ति दी है। पर प्रेमीजी ने युक्तिगत शब्दों को दुहरा भर दिया है। अच्छा होता इस युक्ति के लिखने के पहले भाष्य की तरह अन्य टीकाओं की भी छान-बीन कर ली जाती। दिगम्बराचार्य पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धिटीका में भी यत्र तत्र इस प्रकार के स्थल पाए जाते हैं। मोक्ष का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—"तस्य स्वरूपमनवद्यमुत्तरत्र वक्ष्यामः" पृ० २। दर्शन ज्ञान चारित्र के साथ सम्यक् शब्द की संगति बैठाते हुए प्रतिज्ञा करते हैं—'एतेषां स्वरूपं लक्षणतो विधानतश्च पुरस्ताद् विस्तरेण निर्देक्ष्यामः' पृ० २। यहां 'वक्ष्यामः' निर्देक्ष्यामः स्पष्टतः प्रथम पुरुष की क्रियाएँ हैं। जिनका संकेत आगे के सूत्रों से है' परन्तु इसीपर से सर्वार्थसिद्धिकार और सूत्रकार को एक नहीं कहा जा सकता। राजवार्तिककार आचार्य अकलंकदेव ने तो अनेकों जगह इस प्रकार के प्रयोग किए हैं[1]। परन्तु वे सूत्रकार से भिन्न ही हैं। स्वयं हरिभद्र ने इस प्रकार की क्रियाओं का प्रयोग किया है। हारिभद्रीय

---

१ अवसरप्राप्तं बंधं व्याचक्ष्महे पृ० २१३। प्रकरणसामर्थ्याद् भावबंधं ब्रूमः पृ० २१२।..... अमूर्तेरात्मनो हस्ताद्यसंभवे सत्यादानशक्तिविरहाद् कथं संबंधो भवतीति ? इमं ब्रूमहे पृ० २१७। ..... परीषहजयइत्युक्तमतस्तान्व्याचक्ष्महे पृ० ३३२। ..अतः परं स्थितिबंधं विकल्पं व्याख्यास्यामः पृ० ३१०। अथ खलुमोहनीयस्याष्टाविंशतिप्रभेदस्य किमाख्याः प्रकारा इत्यत्र ब्रूमः पृ० ३०४।

टीका के २२९ पृष्ठ पर बन्ध का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—"बन्ध इति वर्तते एतच्चोपरिष्टाद्दर्शयिष्यामः" यह कथन आगे "स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः" इस रूप से मिलता है। इन उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि मूल रचनाओं की ओर संकेत करने वाली टीका की प्रथम पुरुष आदि क्रियाओं से टीकाकार और मूल ग्रन्थकार को एक नहीं माना जा सकता। वास्तव में भारतीय टीकाकारों की यह एक शैली रही है कि उन्होंने मूलग्रन्थकारों में अपने को मिला सा दिया है। कला की दृष्टि से यह उचित भी है। विषय का प्रतिपादन सिलसिलेवार और सुसंबद्ध होना चाहिए। मूल ग्रन्थकार जिस बात को आगे रखना चाहता है चतुर टीकाकार का कर्तव्य है उस विषय की चर्चा वह पहले से छोड़ दे और दोनों कथनों को इस तरह मिला दे मानो टीकाकार को यही कहना था। समस्यापूरक का जो स्थान है उससे मिलता जुलता ही टीकाकार का स्थान है। आचार्य विद्यानन्दि ने अकलङ्क की 'अष्टशती' पर अष्टसहस्री टीका इसी नमूने पर लिखी है। अष्टशती के वाक्य यदि मोटे टाइप में न रक्खे जायँ तो यह पहचानना कठिन है कि अष्टशती और अष्टसहस्री भिन्न कर्तृक हैं इसके लिये यहाँ २-१ उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा—

ननु च कस्येदं सूक्ष्माद्यर्थप्रत्यक्षत्वं साध्यते, अर्हतोऽनर्हतः सामान्यात्मनोवा ? यदि विप्रकृष्टार्थप्रत्यक्षत्वमर्हतः साध्यते पक्षदोषोऽप्रसिद्धविशेषणत्वम् ततएव व्याप्तिर्न सिद्ध्येत्। अनर्हतश्चेदनिष्टानुषङ्गोपि। का पुनः सामान्यात्मा तदुभयव्यतिरेकेण यस्य विवक्षितार्थप्रत्यक्षत्वं। पृ० ६१

सोत्र भवान्नर्हन्नेव, न पुनः कपिलादय इति,। एतत्कुतोनिश्चितमितिचेत्, अन्येषां न्यायागमविरुद्धभाषित्वात्। पृ० ६६।

उक्त उद्धरणों में रेखाङ्कित पक्तियां अष्टशती की हैं' परन्तु विद्यानन्दि ने अष्टसहस्री लिखते हुए रेखाङ्कित पंक्तियों के पहले जो अपने शब्द लिखे हैं उनसे ऐसा मालूम पड़ता है कि अष्टशती के वाक्य भी स्वयं विद्यानन्दि के हैं। अतः जहाँ मौलिक रचना को आत्मसात् करने के लिये टीकाकार 'वक्ष्यामि' 'वक्ष्यामः' आदि प्रथम पुरुष की क्रियाओं का प्रयोग करते हैं वहाँ उसका अर्थ इतना ही समझना चाहिए कि वे उस मूल रचना को अपनी रचना के साथ सुगठित और व्यवस्थित करना चाहते हैं जिससे पाठकों को आगे नवीन विषय को समझने में एकाएक दिक्कत न हो और उनके अध्ययन का क्रम प्रवाह रूप से चालू रहे। पातञ्जलि के योग दर्शन पर व्यास भाष्य भी इसी दृष्टिकोण से लिखा गया है। योग दर्शन के सूत्रों को लक्ष्य में रख कर व्यास ऋषि ने भी प्रथम पुरुष की क्रियाओं का प्रयोग किया है उसके भी कुछ उदाहरण देखिए "स च वितर्कानुगतो विचारानुगत आनन्दानुगतोस्मितानुगत इत्युपरिष्टात्प्रवेदयिष्यामः" आगे चल कर प्रथम समाधि-

पाद का १७ वां सूत्र इसी के अनुसार मिलता है[1]। "प्रति संवेदीपुरुष इत्युपरिष्टादुपपादयिष्यामः" प्र० स० सू० ७, आगे कैवल्यपाद में जाकर यह वर्णन मिलता है। महर्षि पातंजल व्यास से सैकड़ों वर्ष पहले हो गये हैं फिर भी टीकाकार व्यास मूल रचना के लिए 'प्रवेदयिष्यामः' 'उपपादयिष्यामः' आदि प्रथम पुरुष की क्रियाओं का प्रयोग कर रहे हैं। अतः टीका में प्रयुक्त हुए प्रथम पुरुष की क्रियाओं को लेकर टीकाकार और मूलग्रंथकार में अभिन्नता सिद्ध करना किसी प्रकार भी युक्तियुक्त नहीं है।

## अन्य पुरुष की क्रियाओं का प्रयोग

दूसरी बात यह है कि प्रेमीजी जब प्रथम पुरुष की क्रियाओं के प्रयोग को मूलकर्त्ता और टीकाकार में अभिन्नता का साधक बतला रहे हैं तब अन्य पुरुष की क्रियाओं के प्रयोग को वे क्या कहेंगे ? क्या वे उन्हें भिन्नता के साधक बतलाएँगे। यदि ऐसा है तो भाष्य में अन्य पुरुष की क्रियाओं के प्रयोग भी मौजूद हैं और इस लिहाज से सर्वार्थसिद्धि आदि टीकाओं की तरह भाष्य भी भिन्न कर्तृक होना चाहिए; दृष्टांत के लिए देखिए[2] "तत्कर्मत एव भवति इति बन्धे पुरस्ताद्वक्ष्यति" कार्मण शरीर किस निमित्त से होता है ? ऐसी शंका होने पर वह कर्म से होता है यह बात आगे बन्ध प्रकरण में आचार्य कहेंगे। इसी तरह पहले अध्याय के २१ वें सूत्र का अवतरण देते हुए भाष्यकार लिखते हैं "अत्राह मतिश्रुतयोस्तुल्यविषयत्वं, वक्ष्यति "द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" इति ....."यहाँ वक्ष्यामि का कर्ता स्पष्टतः सूत्रकार है और उसका संकेत "मतिश्रुतयोर्निबंधोद्रव्येष्वसर्वपर्यायेष" इस सूत्र की तरफ है। आगे चलकर—"तीसरे अध्याय का अवतरण देते हुए लिखा है "वक्ष्यति च स्थितौ नारकाणां च द्वितीयादिषु"। यहाँ तो स्पष्ट सूत्रकार की तरफ से आगे कहे जाने वाले सूत्र का नाम तक दे दिया गया है। इन सब उद्धरणों से स्पष्ट है कि सर्वार्थसिद्धि आदि भिन्न कर्तृक टीकाओं की तरह भाष्य में भी सूत्रकार के लिए अन्य पुरुष की क्रियाओं का प्रयोग किया है। इन सब प्रमाणों के अतिरिक्त एक और सबल प्रमाण देखिये—

प्रथम अध्याय के ११ वें सूत्र में—"आद्येपरोक्षं" का भाष्य करते हुए भाष्यकार लिखते हैं—**"आद्यौ भवमाद्यम् सूत्रक्रमप्रामाण्यात् प्रथमद्वितीये शास्ति"** यहाँ पर शास्ति यह अन्य पुरुष की क्रिया का प्रयोग है परन्तु इसके साथ में यह तुरंत शंका होती है कि कःशास्ति सूत्रकारो भाष्यकारो वा ? उत्तर स्पष्ट है सूत्रकारः शास्ति। क्योंकि सूत्रक्रम की प्रमाणता सूत्रकार के साथ हो सकती है न कि भाष्यकार के साथ। अतः समूचा वाक्य इस तरह बन जाता है "सूत्रक्रमप्रामाण्याद् प्रथमद्वितीये शास्ति सूत्रकारः" शास्ति शब्द का

१ **वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः ॥१७॥**

२ **"शुभविशुद्धमव्याघाति" इत्यादि सूत्र के भाष्य में।**

अर्थ शासन करना है अतः यहाँ शासन करने से मतलब है। सूत्र प्रक्रिया को उस ढंग से बनाए रखना, यह कार्य भाष्यकार का नहीं सूत्रकार का है। भाष्यकार तो जैसा सूत्र देखेगा वैसा अर्थ कर देगा। जो जिसकी रचना है आखिर वही तो उसपर शासन कर सकता है, इसलिए भाष्यकार का अभिप्राय शास्ति के बाद अवश्य ही "सूत्रकारः" शब्द से रहा है अतः सम्पूर्ण पंक्ति का अर्थ करना चाहिये। आदि में जो हो वह आद्य कहलाता है अर्थात् सूत्र ( मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानिज्ञानम् ) क्रम की प्रमाणता से प्रथम द्वितीय ज्ञान ( मतिज्ञान श्रुतज्ञान ) को सूत्रकार बतलाता है।

'शास्ति' क्रिया के साथ यहाँ "सूत्रकार" पद की कल्पना मैं ही नहीं कर रहा हूं, किन्तु सिद्धसेनगणी ने भी शास्ति के बाद सूत्रकार पद जोड़ा है परन्तु इससे सूत्रकार और भाष्यकार की भिन्नता का जो नग्नसत्य सामने आता था, उसे स्वीकार करने में वे आत्मवञ्चना कर गए और दोनों की एकता की धुन में जैसे तैसे शंका समाधान कर इस प्रकरण से अपना पिण्ड छुड़ाया है। उनका शंका समाधान देखिए "**क्रमः—परिपाटी सूत्रक्रमः सूत्रक्रमः तस्या प्रामाण्यं—आश्रयणं तस्मात् प्रथम-द्वितीये-मतिश्रुते, शास्तीति च ग्रन्थकारं एव द्विधा आत्मानं विभज्य सूत्रकार भाष्यकाराकारेणेवमाह—शास्तीति सूत्रकार इतिशेषः अथवा पर्यायभेदात् पर्यायिणोभेदः इत्यन्यः सूत्रकारपर्यायाऽन्यश्च भाष्यकार पर्याय इत्यतः सूत्रकारपर्यायः शास्तीति**" अर्थात् ग्रन्थकार ने अपने को सूत्रकार और भाष्यकार इस तरह दो भागों में बांटकर शास्ति ऐसा कहा है इसलिए सूत्रकार शब्द बाद में और लगा लेना चाहिये अथवा पर्याय में भेद होने से पर्यायों को भी भिन्न समझना चाहिए अतः ( एक ही ग्रन्थकार की ) सूत्रकार पर्याय भिन्न है और भाष्यकार पर्याय भिन्न है; अतः "सूत्रकार पर्याय कहती है" ऐसा लगा लेना चाहिए। गणीजी के इस समाधान से अगर भाष्यकार स्वयं "सूत्रकार" पद देकर मूलग्रन्थकार को अपने से भिन्न रखना चाहते तब भी भिन्न नहीं हो सकते थे और इस ढंग से तो फिर संसार भर की टीकाएँ 'आत्मानं द्विधाविभज्य तथा पर्यायभेदात् पर्यायिणोभेदात्' इन दो हेतुओं से मूलग्रन्थकार की ही बना ली जायगीं। इतना ही क्यों जहाँ 'वक्ष्यामि' वक्ष्यामः का प्रयोग भाष्यकार ने किया है वहाँ इन शब्दों को उलट कर रखने से भाष्य को भिन्न कर्तृक भी सिद्ध किया जा सकेगा। यथा—वक्ष्यामीति भाष्यकार एव आत्मानं सूत्रकारं चैकीकृत्य मिदमाह वक्ष्यामीति अहमिति शेषः। अथवैकप्रयोजनवत्त्वाद्भिन्नद्रव्यत्वेप्युभयोरभेद इति स एव भाष्यकारः स एव सूत्रकारः। परन्तु जिस तरह यह समाधान अयुक्त है उसी तरह गणीजी का समाधान भी अयुक्त है।

## सूत्र और भाष्य में विरोध

भाष्य में कई स्थल ऐसे हैं जहाँ वह सूत्र का अनुसरण नहीं करता। कहीं तो सूत्रानुसारी अर्थ की कमी है और कहीं जिस सूत्र का जहाँ अर्थ चाहिए वहाँ नहीं किया गया,

अन्यत्र किया गया है। कम से कम स्वोपज्ञ भाष्य में ऐसी गड़बड़ी नहीं हो सकती परन्तु मौजूदा भाष्य इन गड़बड़ियों से भरा हुआ है। यहाँ हम उन सभी स्थलों का उद्धरण देते हैं। चतुर्थ अध्याय का चौथा सूत्र देखिये:—

"इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिकाश्चैकशः" ४-४

यहां स्पष्टतः देवनिकायों के इन्द्र सामानिक आदि १० भेद गिनाये हैं। किन्तु भाष्य में इस सूत्र का अर्थ करते हुए ११ भेद गिनाए हैं, यथा—इन्द्राः, सामानिकाः, त्रायस्त्रिंशाः पारिषदाः, आत्मरक्षाः, लोकपालाः, अनीकाधिपतयः, अनीकानि, प्रकीर्णकाः आभियोग्याः किल्बिषिकाश्चेति। अनीकाधिपति भेद अधिक है जिसका अर्थ स्वयं भाष्यकार ने किया है अनीकाधिपतयो—दण्डनायकस्थानीयाः यह अतिरिक्त भेद सिद्धसेन को खटका है। इसपर वे लिखते हैं "सूत्र में अनीकों का ही आचार्य ने ग्रहण किया है, अनिकाधिपतियों का नहीं। लेकिन भाष्य में अनिकाधिपतियों का भी ग्रहण किया है। यह सब अनीक और अनीकाधिपति में एकत्व का विचार कर ही भाष्यकार ने इस प्रकार लिखा है। नहीं तो दश की संख्या नहीं रहेगी' यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि गणी जी का यह जबर्दस्ती का समाधान है। अगर सचमुच यही बात थी तो भाष्यकार को ही यह समाधान करना चाहिए था परन्तु ऐसे भी समाधान में वे मौन हैं अतः स्पष्ट है कि भाष्यकार का मत सूत्रकार से भिन्न है।

आगे चलकर चौथे अध्याय का २६ वां सूत्र देखिये:—

"सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधमरुतोऽरिष्टाश्च।"

इसमें लैकान्तिक देवों के ९ भेद गिनाए हैं। इसका भाष्य करते हुए भाष्यकार ८ ही भेद गिनाते हैं, यथा—एते सारस्वतादयोऽष्टविधा देवा ब्रह्मलोकस्य पूर्वोत्तरादिषु दिक्षु प्रदक्षिणं भवन्ति यथासंख्यम्...। इस पर सिद्धसेन गणी शंका समाधान करते हुए लिखते हैं—"शंका, यह तो नौ भेद होते हैं और भाष्यकार ने आठ ही गिनाए हैं ? समाधान, लोक के अन्त में रहने वाले यह आठ भेद सूरि ने गिनाएँ हैं। किन्तु रिष्ट विमान प्रस्तार में रहनेवालों की अपेक्षा ९ भेद होते हैं अतः कोई दोष नहीं है। हाँ, आगम में ९ ही भेद हैं[२]। गणी जी का यह समाधान कितना संतोषप्रद है इसे पाठक समझ सकते हैं।

१ सूत्रे चानीकान्येवोपात्तानि सूरिणानीकाधिपतयः भाष्ये पुनरुपन्यस्तास्तदेतदेकत्वमेवानीकानीकाधिपत्योः परिचिन्त्य विवृतमेवं भाष्यकारेण, अन्यथा न दशसंख्या भिद्येत्।

२ नन्वेमेते नवभेदा भवन्ति, भाष्यकृता चाष्टविधा इति मुद्रिता। उच्यते-लोकान्तर्वर्तिन एतेऽष्टभेदाः सूरिणोपात्ता रिष्टविमानप्रस्तारवासिभिर्नवधा भवन्तीत्यदोषः आगमेनुभवत्रैवाधीता, पृ० ३०७।

आज वे सामने होते तो हम उनसे बड़ी नम्रता के साथ निवेदन करते कि महाराज आप कहते हैं सो तो ठीक है लेकिन यह तो बतलाइये कि जब आपके मत से सूत्रकार भाष्यकार एक हैं तब उन्होंने अपने सूत्र में दिये ९ नामों का खुलासा क्यों नहीं किया और जिस अपेक्षा से उन्होंने सूत्र में ९ भेद दर्शाए हैं वह उस सूत्र का भाष्य करते हुए उन्होंने क्यों छोड़ दी ? भाष्य जब सूत्र का ही खुलासा करने के लिये है तब खुलासा करना तो दूर रहा वह उसके विरुद्ध जा रहा है इसका क्या कारण है ? अस्तु जब तक गणी जी की टीका विद्यमान है तब तक ये प्रश्न भी उनके समाधान के लिये खड़ेही रहेंगे।

इसी प्रकार छठे अध्याय का छठवाँ सूत्र है—"इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया..... पूर्वस्यभेदाः।" इसमें साम्परायिक आश्रव के भेदों को गिनाते हुए पहले इन्द्रिय फिर कषाय फिर अव्रत यह क्रम रक्खा है परन्तु भाष्यकार को यह क्रम पसन्द नहीं है अतः उन्होंने इसमें बिल्कुल उल्टा ही क्रम रखा है। वे इस सूत्र का भाष्य करते हुए पहले अव्रत, फिर कषाय बाद में इन्द्रिय का वर्णन करते हैं[1]। यद्यपि कुछ प्रतियों में 'अव्रत कषायेन्द्रिय.....पाठ भी मुद्रित है परन्तु यह गड़बड़ बाद के श्वेताम्बर लेखकों ने की है और भाष्य को देख कर ही उसके अनुसार सूत्रों में परिवर्त्तन कर दिया है। क्योंकि सिद्धसेन गणी ने जिस सूत्रपाठ के भाष्य पर अपनी टीका लिखी है वह सूत्रपाठ उसके सामने "इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया.....ही मौजूद था। अतः भाष्यकार की क्रम विपरीतता देख कर उन्होंने उसका समाधान भी करना चाहा है। वे लिखते हैं—"भाष्यकार ने इन्द्रिय कषायों का उलंघन कर पहले अव्रत का वर्णन किया है इसका क्या मतलब है ? बतलाते हैं, भाष्यकार का यह मतलब है कि हिंसादिक अव्रत सम्पूर्ण आश्रव समूह के कारण हैं, उनमें प्रवृत्ति होने पर आश्रवों में प्रवृत्ति होती है और उनसे निवृत्ति होने पर आश्रवों से निवृत्ति होती है। इस अर्थ को जतलाने के लिए भाष्यकार ने सूत्रोक्त क्रम का उलंघन कर अव्रतों का वर्णन किया है[2]। गणी जी यह सब समाधान तो करते हैं लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि उन्होंने सूत्र और भाष्य को एक कर्तृक मान रखा है अतः जब हिंसादिक अव्रत ही सब आश्रवों के मूल कारण थे तब भाष्यकार को सूत्र में भी वही क्रम रखने में क्या आपत्ति थी। सूत्र रचना करते समय ग्रन्थकार को इंद्रियां ही सम्पूर्ण

१ .....पञ्च हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाः। प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसेत्येवमादयः वक्ष्यन्ते। चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः अनंतानुबन्ध्यादयो वक्ष्यन्ते। पञ्च प्रमत्तस्येन्द्रियाणि। पञ्चविंशति क्रिया.....पृ० ११ तत्वा० उत्तरा०।

२ तत्र इन्द्रिय कषायानुर्लंघ्याव्रतान्येव व्याचष्टे भाष्यकारः, किं पुनरत्र प्रयोजनमिति ? उच्यते-अयमभिप्रायो भाष्यकारस्य हिंसादीन्यव्रतानि सकलाश्रवजालमूलानि तत्प्रवृत्तावाश्रवेष्वेवप्रवृत्तिस्तन्निवृत्तौ च सर्वाश्रवेभ्यो निवृत्तिरित्यर्थस्यज्ञापनार्थं सूत्रोक्त क्रममतिक्रम्याव्रतानि व्याचष्टे भाष्यकारः।

आश्रवों में मूल कारण थीं और उसी सूत्र की भाष्य रचना करते हुए हिंसादि अव्रत ही उन्हें ( ग्रन्थकार को ) सब आश्रवों के मूल कारण थे। इस विचित्र समाधान से गणी जी ही संतोष कर सकते हैं दूसरा नहीं। अपना उपर्युक्त समाधान करते हुए गणी जी ने यह भी लिखा है कि सूत्र में जो "इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया—क्रम रक्खा है, वह सूत्ररचना की शोभा के लिये हैं[1] " अर्थात् उन्हें स्वयं यह बात खटकी है कि जब सूत्रकार और भाष्यकार एक हैं तब जो अपेक्षा उन्होंने भाष्यक्रम में रखी है वही अपेक्षा सूत्रक्रम में भी रक्खी है अतः उसीके समाधान के लिये उन्होंने उक्त वाक्य लिखे हैं। परन्तु सचाई यह है कि अर्थ गांभीर्य की उपेक्षा कर संदर्भ में शोभा के लिये सूत्र रचना नहीं की जाती, दूसरे जिस सूत्रपाठ या श्लोक के हम पढ़ने सुनने के अभ्यासी हो जाते हैं वह हमारे मुंह लग जाता है। अतः जब उसकी तुलना में कोई बदला हुआ सूत्रपाठ या श्लोक हमारे सामने आता है तब वह हमें भद्दा और पहला सूत्रपाठ सुन्दर मालूम होने लगता है। "इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया और अव्रतकषायेन्द्रियक्रिया..." इन दोनों सूत्रपाठों में भी यही बात हुई है सिद्धसेन गणी "इन्द्रियकषायव्रतक्रिया..." सूत्रपाठ के अभ्यासी रहे हैं[2]। अतः उन्हें वह पाठ तो सुन्दर और अव्रतकषायेन्द्रिय...पाठ असुन्दर प्रतीत हुआ। अगर पहले पाठ की अपेक्षा द्वितीय पाठ वे परंपरा से सुनते, बांचते आए होते तो दूसरा पाठ सुन्दर और पहला पाठ असुन्दर प्रतीत होता। इसलिए सुन्दरता असुन्दरता की कसौटी परंपरा से आया हुआ अभ्यास और रुचि है अन्यथा यह समझना कठिन होगा कि सूत्रगत पाठ क्रम क्यों सुन्दर है और भाष्यगत पाठक्रम क्यों असुन्दर है ?

## असूत्रार्थ।

दूसरे अध्याय का ३७ वाँ सूत्र है" औदारिकवैक्रियकाहारकतेजसकार्मणानि शरीराणि' इसका वास्तविक भाष्य इसी अध्याय के ४९ वें सूत्रमें पृ० २११ से २१४ तक किया गया है। किन्तु यह अनियन्त्रितता सिद्धसेन गणी से नहीं छिपी अतः बड़े कष्ट से इसका समाधान करते हुए भी उन्हें इसे असूत्रार्थ कहना पड़ा है और इसके लिये आचार्य को[3] क्षमा करना पड़ा है। उनके वाक्य देखिये :—

शंका—यह भाष्य तो शरीर प्रकरण के पहले सूत्र (२-३७) में ही करना था यहाँ दूसरे प्रकरण में करने का तो इसका कोई मतलब नहीं है। समाधान—इसका यह मतलब नहीं है—प्रकरण का पहला सूत्र प्रकरण की समाप्तिपर्यन्त चालू रहता है अथवा दूसरे प्रकरण में इनके कथन करने का कोई फल नहीं क्योंकि वह सूत्र ( प्रकरणगत ) का अर्थ

१ सूत्रबन्धशोभाहेतोरिन्द्रियादिसन्निवेशः। २ क्योंकि प्राचीन सूत्रपाठ यही था।
३ भाष्यकार को

नहीं है अतः आचार्य की इस एक गल्ती को क्षमा करना चाहिये[1]। समझ में नहीं आता जब सूत्रकार और भाष्यकार एक ही हैं तब जिस सूत्र का भाष्य जहाँ चाहिए वहाँ तो न करे और जहाँ न चाहिए वहाँ करे, इसका क्या मतलब है ?

इस संबंध में गणी जी का समाधान तो बिल्कुल ही अनुचित है। छठे अध्याय में मात्र आश्रव का प्रकरण है तब क्या उसके दूसरे सूत्र का अर्थ ( स आश्रवः ) का अर्थ अन्तिम सूत्र ( विघ्नकरणमन्तरायस्य ) के अन्तर्गत करना चाहिये अथवा 'आश्रव-निरोधः संवरः' का अर्थ जहाँ चारित्र का प्रकरण समाप्त हुआ है वहाँ करना चाहिए। अस्तु, जब गणीजी को अपने समाधान से स्वयं ही संतोष नहीं है और इसके लिए वे लाचारी से कह रहे हैं कि आचार्य को क्षमा करना चाहिए तब उसपर अधिक लिखना व्यर्थ है।

## भाष्यकार के सामने पाठान्तर।

भाष्यकार ने यद्यपि पाठान्तरों की चर्चा नहीं की है फिर भी उनके भाष्य को सावधानी से देखने पर यह स्पष्ट मालूम हुए बिना नहीं रह सकता कि भाष्यकार के सामने अन्य सूत्रपाठ मौजूद था। उदाहरण के लिए दूसरे अध्याय का अंतिम सूत्र देखिये—

"औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः"।

यहाँ उत्तम शब्द को लेकर पूज्यपाद और अकलङ्क ने काफी चर्चा की है साथ ही साथ "चरमदेहाः" पाठान्तर भी सूचित किया है। भाष्यकार के सामने भी ये दोनों पाठ रहे हैं अतः इस सूत्र का भाष्य लिखते समय सामान्य अर्थ करते हुए तो उत्तम शब्द का अर्थ लिख दिया है। लेकिन बाद में जहाँ सोपक्रम निरुपक्रम आयु का विचार किया है। वहाँ औपपातिक, चरमदेह और असंख्यातवर्ष आयुवालों की तो सोपक्रमता और और निरुपक्रमता का विचार किया है। किन्तु उत्तम पुरुषों का नाम ही नहीं लिया[2]। इस तरह उन्होंने दोनों पाठों का बड़ी सतर्कता के साथ समन्वय कर लिया है। सिद्ध सेनगणी से यह पाठान्तर की समन्वयता छिपी नहीं रही अतः दोनों पाठों के अनुसार भाष्य को देख कर उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि इस भाष्य से ही यह सन्देह होता है कि सूत्र में उत्तम पुरुष का ग्रहण चाहिये या नहीं। "उत्तम पुरुष' पर विवाद सिद्धसेन ने इसलिए उठाया है कि उनके सामने भाष्य पर टीका लिखते समय जो सूत्रपाठ था उसमें "उत्तम पुरुष" पाठ नहीं था। इस सम्बन्ध में हम सिद्धसेन के शब्दों को ही यहाँ उद्धृत करते हैं :—

१ ननु च शरीरप्रकरणप्रथमसूत्रे एतद्भाष्यं युक्तं स्याद् इह तु प्रकरणान्तराभिधाने न किंचिद् प्रयोजनं वैशेषिकमस्तीति। उच्यते-तदेवमयं मन्यते, तदेवेदमादिसूत्रमाप्रकरणपरिसमाप्तेः प्रपञ्चते अथवा प्रकरणान्तराभिधाने न किंचिद् फलमस्त्यसूत्रार्थत्वादतः क्षम्यतामिदमेकमाचार्यस्य। तत्त्वार्थाधिगम सू० ७० पृ० २११

२ अस्तोत्तमपुरुषा नोक्ताः, सिद्धसेनीय टीका पृ० २२३

केचिदभिदधते-नास्ति सूत्रकारस्योत्तमपुरुषग्रहणम् तत्कथं तीर्थंकरादि संग्रह इति चेदु एवं च मन्यंते चरमदेहग्रहाद् ग्रहीष्यन्ते, कथम् ? ये किलचरमदेहास्ते नियमत एवोत्तम भवन्ति, उत्तमास्तु चरमदेहत्वेन भाज्या वासुदेवादय इति तस्मादनार्षमुत्तमपुरुषग्रहणम् । उभयथा च भाष्यपमुलक्ष्यते अविगानात्। आदावुत्तमपुरुषास्तीर्थकरादय इति विवृत्तमुत्तर-कालं पुनर्नोपात्तमुत्तमपुरुषग्रहणं निरूपक्रमसोपक्रमनिरूपणायां अतो भाष्यादेव सन्देहः' किमस्ति नास्तीति तदेवेदमस्माकम्" अर्थात् कोई कहते हैं कि सूत्रकार ने "उत्तम पुरुष का ग्रहण नहीं किया तब—भाष्य में तीर्थंकरादि का संग्रह कैसे कर लिया। उत्तर—'चरम देह" के ग्रहण से तीर्थंकरादिका ग्रहण हो जायगा। क्योंकि जो चरमदेह होते हैं; वे नियम से उत्तम होते हैं। और जो उत्तम होते हैं वे चरमदेह होते भी हैं नहीं भी होते; जैसे वासुदेव आदिक इसलिए उत्तम पुरुष का ग्रहण आर्ष विरुद्ध है। अथवा परंपरा से दोनों तरह का भाष्य मिलता है। पहले उत्तम पुरुष का अर्थ तीर्थंकरादिक बतलाया गया है बाद में निरुपक्रमसोपक्रम की निरूपणा करते समय उत्तम पुरुष का ग्रहणा नहीं किया अतः भाष्य से ही यह सन्देह होता है कि उत्तम पुरुष का ग्रहण चाहिये या नहीं वही सन्देह हमें है।"

सिद्धसेन के उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि भाष्यकार सूत्र में 'उत्तम पुरुष के लिए स्वयं संदिग्ध रहे हैं और अपने सन्देह का निवारण नहीं होते देख उन्होंने सूत्र का दोनों तरह से अर्थ कर दिया है अन्यथा कोई कारण नहीं कि सामान्य अर्थ करते समय तो सूत्रस्थ अन्य पदों के साथ उत्तम पुरुष का अर्थ कर दिया जाय और विशेष अर्थ करते समय सूत्रस्थ संपूर्ण पदों का अर्थ करते हुए 'उत्तम पुरुष' को छोड़ दिया जाय।

## भाष्य में सन्देहस्थल

सूत्र पाठान्तर की तरह भाष्य में सन्देहस्थल भी मौजूद हैं और भाष्य को सावधानी से पढ़ जाने के बाद वे प्रकट हुए बिना नहीं रहते। हमें आश्चर्य है कि प्रेमी जी की सतर्क दृष्टि से वे कैसे बचे रहे ? और क्यों वे केवल पं० सुखलाल जी की युक्तियों पर ही विश्वास' करके रह गये।

तीसरे अध्याय के प्रथम सूत्र में घन शब्द की सार्थकता बतलाते हुए भाष्यकार लिखते हैं—"अम्बुबाताकाशप्रतिष्ठा इति सिद्धे घनग्रहणं क्रियते **तेनायमर्थः प्रतीयते** घनमेवाम्बु अधः पृथिव्या" अर्थात् 'अम्बुबाताकाशप्रतिष्ठाः इसीसे काम चल जाता था फिर भी यहाँ "घन" का ग्रहण किया है **उससे यह अभिप्राय मालूम होता** है कि पृथ्वी के नीचे घना जल है यहाँ **"यह अभिप्राय मालूम होता है ( तेनायमर्थः प्रतीयते )"** यह वाक्य स्पष्ट बतला रहे हैं कि भाष्यकार को 'घन' शब्द की सार्थकता का निश्चय नहीं है अतः उन्होंने अपनी अनिश्चयात्मक वृत्ति"को "तेनायमर्थः प्रतीयते" वाक्य से स्पष्ट किया है।

अगर सूत्र इन्हीं का बनाया होता तो वे 'घन' शब्द की सार्थकता के लिये 'प्रतीयते' शब्द का प्रयोग नहीं करते किन्तु 'तस्यायमर्थः' कह कर उसकी पुष्टि करने अथवा घनग्रहणं 'घनमेवाम्बु इति ख्यापनार्थं' इन शब्दों का प्रयोग करते। परन्तु 'ऐसा मालूम पड़ता है' ये वाक्य तो तभी इस्तेमाल किये जाते जब उस पदार्थ का हम को ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता।

इसी तरह का एक और प्रयोग देखिए। चौथे अध्याय का १३ वां सूत्र है :— "ज्योतिष्कासूर्यचन्द्रमसौग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च" यहाँ 'सूर्यचन्द्रमसौ' पाठ का शेष सूत्र के साथ समास न करने और आर्षविरुद्ध क्रमभंग करने की आपत्ति का समाधान करते हुए भाष्यकार लिखते हैं :—'असमासकरणमार्षाच्च सूर्यचन्द्रमसोः क्रमभेदः कृतः यथा गम्येतैतदेवैषामूर्ध्वनिवेश आनुपूर्व्यमिति'। भाष्यकार के इस समाधान में "यथागम्येत" पद ध्यान देने लायक है। इससे भाष्यकार की समाधान में दृढ़ता प्रतीत नहीं होती।

इन उपर्युक्त उद्धरणों से प्रेमी जी की दूसरी युक्ति भी खण्डित हो जाती है जिसमें उन्होंने लिखा है कि सूत्र का अर्थ करने में कहीं भी सन्देह या विकल्प नहीं किया गया और न कहीं भाष्य में सूत्र के पाठभेद की चर्चा है। भाष्य में और भी कई[1] ऐसे प्रकरण मौजूद हैं जहाँ सूत्रके साथ उसकी संगति नहीं बैठती तथा जिनका भाष्य के टीकाकारों ने उल्लेख किया है। यथा— सान्निपातिकस्तु तदन्तर्गतत्वादेव वृत्तिकृता नोक्तः उपात्तस्तु सूत्रकारेण च शब्दोपादानात्।"हारिभद्रीयटीका पृ० १०९।

..... मध्यवर्तिना सूत्रेणा[2]वइयं देवापुरपेक्ष्यमेव, एवं विधं च भाष्यं नास्ति, सिद्धंसेन गणी टीका उत्तरा० पृ० ३१

प्रेमी जी की तीसरी युक्ति है—भाष्य के प्रारंभ में जो ३१ कारिकाएँ हैं वे मूलसूत्र रचना के उद्देश्य से और मूलग्रंथ को लक्ष्य में रख कर लिखी गई हैं ..... इत्यादि इस विषय में हमारा यह कहना है कि वे कारिकाएँ सूत्रकार कृत नहीं हैं किन्तु भाष्यकार की हैं और जिस तरह उन्होंने तथा अन्य टीकाकारों ने 'वक्ष्यामि' 'वक्ष्यामः' के प्रयोग मूल सूत्र रचना को लक्ष्य में रख कर किए हैं उसी तरह प्रारंभिक कारिकाएँ भी भाष्यकार ने मूल ग्रंथ को लक्ष्य में रख कर लिखी हैं।

## क्या भाष्य प्राचीन है ?

भाष्य की प्राचीनता को लेकर भी प्रेमीजी ने कुछ चर्चा की है उन सब का सार यह है कि अकलंक ने भाष्य की ३२ कारिकाएँ उद्धृत की हैं तथा राजवार्तिक में जगह २ भाष्य

१ "निःशीलव्रतत्वं सर्वेषां" इसमें चारों आयु के आश्रव के कारण बतलाए हैं। परन्तु भाष्यकार ने देवायु को छोड़ कर तीन आयु के आश्रव के कारण बतलाए हैं।

२ "क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थ "इत्यादि सूत्र में तीर्थ के बाद पुनः लिंग अनुयोग द्वार का वर्णन किया है। इस पर यह शंका की है।

मान्य सूत्रों का विरोध किया है। जगदीशचन्द्र जी ने भी अनेक उद्धरण देकर अकलंक के सामने भाष्य का होना सिद्ध किया है। सर्वार्थसिद्धि में भाष्य का विरोध नहीं किया गया प्रत्युत दोनों के पद वाक्य आदि मिल जाते हैं आदि। प्रेमी जी लिखने को यह सब लिख तो गये हैं परन्तु हमें सन्देह है कि उन्हें अपनी युक्तियों पर विश्वास होगा। सन्देह की बात हमने इसलिए लिखी है कि स्वयं प्रेमीजी की युक्तियों से ही प्रेमी जी की बात खण्डित हो जाती है। उदाहरण के लिए प्रेमीजी लिखते हैं—"आचार्य अमृतचन्द्र ने अपने तत्त्वार्थसार में भी भाष्य की उक्त ३२ कारिकाओं में ३० कारिकाएँ नम्बरों को कुछ इधर उधर करके ले ली हैं और मुद्रित प्रति के पाठ पर विश्वास किया जाय तो उन्होंने उन्हें 'उक्तंच रूप में न देकर अपने ग्रंथ का ही अंश बना लिया है। अमृतचन्द्र का समय निर्णीत नहीं है फिर भी वे विक्रम की १२ वीं सदी के बाद के नहीं हैं और वे भी भाष्य से या उसकी उक्त कारिकाओं से परिचित थे।" हमारा इसमें पूछना इतना ही है कि जब अमृतचन्द्र का समय निर्णीत नहीं है तब आपने यह कैसे संतोष कर लिया कि अमृतचन्द्र भाष्यकार के बाद हुए हैं और उन्होंने भाष्य की ३० कारिकाएँ ले ली हैं अथवा यह संतोष क्यों नहीं कर लिया कि तत्त्वार्थसार से भाष्यकार ने ३० कारिकाएँ ले ली हैं। विक्रम की १२ वीं सदी के बाद के वे भले ही न हों लेकिन वे पहले कब हुए हैं। आप को तो यह निर्णय करना था। प्रसङ्गवश यहाँ यह लिखे बिना नहीं रहा जाता कि जैन विद्वानों की इतिहास चर्चा ने आचार्य अमृतचन्द्र के साथ बहुत कुछ अन्याय किया है। उनमें से किसी ने भी आज तक ऐसा कोई प्रमाण नहीं दिया जिससे उन्हें अकलङ्क आदि आचार्यों से अर्वाचीन माना जा सके। किन्तु यह सभी लिखते रहे हैं कि अमृतचंद्र ने अमुक जगह से यह श्लोक ले लिया, क्योंकि वे अमुक आचार्य से अर्वाचीन हैं। हमारा यह कदाग्रह नहीं है कि अमृतचन्द्र अर्वाचीन नहीं हैं लेकिन जब तक उनकी अर्वाचीनता में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिल जाता तब तक उनके विषय में एक चलती बात लिख देना कि अकलङ्कादि से बहुत बाद में हुए हैं, इतिहास के विद्वानों को शोभा नहीं देता। अस्तु, प्रेमी जी ने भाष्य की जिन ३० कारिकाओं को अमृतचन्द्र द्वारा अपनाने की बात लिखी है वह उन्हीं की बात ( अमृतचन्द्र का समय निर्णीत नहीं है ) से खण्डित हो जाती है। इसी तरह आप का यह लिखना कि पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में कहीं भी भाष्यका विरोध नहीं किया यही सिद्ध करता है कि पूज्यपाद के सामने भाष्य नहीं था। रही दोनों के पद वाक्यों की समानता की बात उससे यह कैसे निष्कर्ष निकलता है कि पूज्यपाद ने भाष्य के वाक्य अपना लिए हैं अथवा यह निष्कर्ष क्यों नहीं निकलता कि भाष्यकार ने पूज्यपाद के वाक्य अपना लिए हैं। इस संबंध में प्रेमी जी ने जो दोनों की लेखनशैली पर विचार किया है और साथ ही सर्वार्थसिद्धि की रचना को प्रसन्न और गंभीर बताकर उसे भाष्य से अर्वाचीन सिद्ध करना चाहा है वह भी युक्तियुक्त नहीं है। रचना की प्रसन्नता, गंभीरता,

तार्किकता आदि बातें रचयिता की योग्यता, प्रतिभा, अध्ययनशीलता आदि बातों पर निर्भर है। अतः उससे एकान्ततः प्राचीनता, अर्वाचीनता की बात सोचना कदाग्रह के सिवाय और कुछ नहीं।

यह ठीक है कि जगदीशचन्द्रजी आदि विद्वानों ने अकलंक के सामने भाष्य का होना सिद्ध किया है परन्तु पं० जुगलकिशोरजी आदि विद्वानों ने उसका खण्डन भी किया है अतः किसी विद्वान की साक्षी का इसमें कोई महत्त्व नहीं है।

## भाष्यकार यापनीय नहीं थे

भाष्य के अनेक स्थलों को भगवती आराधना की विजयोदया टीका से मिलाकर प्रेमी जी ने यह भी सिद्ध किया है कि भाष्यकार यापनीय संप्रदाय के थे क्योंकि उक्त टीका के कर्त्ता अयण जिनसूरि यापनीय थे और चूंकि भाष्यकार ही सूत्रकार हैं अतः उमास्वाति भी यापनीय थे। इस संबंध में हम प्रेमीजी को यह स्मरण करा देना चाहते हैं जैसा कि उन्होंने स्वयं भी अपने "जैनसाहित्य और इतिहास" में कबूल किया है[1], यापनीय संप्रदाय नग्न रहता था अचेलकता को आदर्श मानता था, मोरपिच्छी रखता था, पाणितलभोजी था स्वयं भगवती आराधना और उसकी टीका में अचेलकता का जोरदार समर्थन किया गया है तथा वस्त्रादि सभी परिग्रह को भी बुरा कहा गया है[2]। परन्तु भाष्य में वस्त्र, पात्र, चीवर, रजोहरण आदि का समर्थन किया गया है। प्रमाण के लिए देखिये—"रजोहरण-पात्रचीवरादीनां पीठफलकादीनां चावश्यकार्थं निरीक्ष्य प्रमृज्य चादाननिक्षेपौ आदाननिक्षेपण-समितिः। पृ० १८८। वस्त्रों के लिए कहा जा सकता है कि यापनीय सम्प्रदाय कारण विशेष उपस्थित होने पर वस्त्र ग्रहण करना भी उचित समझता था, परन्तु यहाँ कारण विशेष की बात नहीं है, परन्तु राजमार्ग है अर्थात् साधु वस्त्रों को देख शोध कर उठावे और रक्खे; इसका सीधा अर्थ है कि वस्त्र तो साधु के पास होता ही है केवल उसके रखने उठाने में सावधानी रखे। दूसरे, अगर वस्त्रों की बात छोड़ भी दीजिए तब भी रजोहरण और पात्रों की समस्या बनी ही रहती है। आखिर इनके सावधानी से रखने उठाने की क्या आवश्यकता है जबकि रजोहरण की जगह वे ( यापनीय ) मोरपिच्छी और पात्र की जगह पाणिपात्र रखते थे।

आगे और भी उदाहरण देखिए—"एषामन्नपानवस्त्रपात्रप्रतिश्रयपीठफलकसंस्तारादिभिर्धर्मसाधनैरुपग्रह्यशुश्रूषाभेषजक्रियाकान्तारविषमदुर्गोपसर्गेषु अभ्युपपत्तिरित्येतदादि वैयावृत्यम्।" पृ० २५८। यहाँ स्पष्ट वस्त्र पात्रादिक से दश प्रकार के साधुओं की वैयावृत्य करना बतलाया है साथ ही वस्त्र पात्रादिक को धर्म का साधन कहा है।

१ पृ० ४४। २ गा० ११२३, ११२४, ११२८, ११२९ आदि।

प्रशम रति में जिसे प्रेमीजी उमास्वाति कर्तृक मानते हैं स्पष्ट मुनि के वस्त्र, पात्र का निरूपण है[1]। इन सब उद्धरणों से यह निश्चित है कि भाष्यकार यापनीय नहीं हैं अन्यथा वे वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि का समर्थन नहीं करते और न भाष्य स्वोपज्ञ ही है क्योंकि उसमें वे सब बातें मौजूद हैं जो सूत्रकार और भाष्यकार को भिन्न सिद्ध करने में सहायक हैं।

१ देखो १३५ वां छंद।

# दि० जैन-संस्कृत-पूजा-साहित्य

[ ले०—ज्योतिषाचार्य, न्यायतीर्थ श्रीयुत् पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, साहित्यरत्न ]

प्रकृति की अभिनय-शाला में अहर्निश अभिनय होता रहता है। इस विराट अभिनय के अभिनेता एवं अभिनेत्रियाँ कीट पतंग से लेकर मानव तक सब-के-सब हैं। मानवता के स्तर से निम्न कोटि के प्राणी सजग और सुबोध अभिनायक नहीं हैं; अतः इस रंगशाला की कटुता या मधुरता के रसास्वादन का अनुभव उन्हें पूर्ण नहीं हो पाता। वे सुखाभास या दुखाभास से इस तरह लुब्ध या क्षुब्ध हो जाते हैं कि मतवाली मस्ती या कम्पायमती कायरता की दासता में ही उनकी जीवनलीला समाप्त हो जाती है। इसके प्रतिकूल मानव कलेवर में अन्तःकरण की स्थापना है जिसके सहारे वह विश्व नाटक में अपना पार्ट अदा करते समय भी अपने निरासक्त मानस मंच पर बैठ कर चहुंदिशि घटित होने वाली घटनाओं एवं क्रिया-कलापों के पेट में प्रविष्ट हो उनके तथ्यातथ्य का विवेचन अन्तःकरण को प्रयोगशाला में करता रहता है। भूलना न होगा कि मानव काया में पशुता एवं मानवता दोनों ही प्रवृत्तियाँ वर्त्तमान हैं, पर जो सज्ञान मानव है वह विरोधी वृत्तियों में भी अपनी मानवता कायम रखता है।

मानव आत्मा नाना प्रकार के सुख-दुःखों और अनेक आवर्त्तनों-विवर्त्तनों के बीच से होकर अपने को प्रकाशित करती है। वह प्रकृति पाठशाला के शृंखलाबद्ध एवं संघर्षमय जीवन मार्ग में जड़ एवं चेतन जगत के प्रतिमा-सौन्दर्य से कभी लुब्ध और क्षुब्ध होती है तो कभी हर्षित एवं पुलकित। सारांश यह है कि विविध वस्तुओं नैकट्य विभिन्न प्रकार के होने के कारण उसके अन्तर्जगत् में नाना प्रकार की तरंगमयी गतिशीलता तरंगित होती रहती है। इसी हार्दिक संवेदना से भक्ति भावना का उदय होता है। संसार यात्रा से विश्रान्त मानव गुणों से आकृष्ट हो अपने आराध्य देव के निकट में जाकर शान्ति चाहता है और वह उस शान्ति प्राप्ति के लिये अपने हृदय की भक्ति को उनके चरणों में उड़ेलने का प्रयास करता है, फलतः साहित्य जगत में भक्ति-साहित्य या पूजा-साहित्य का आविर्भाव होता है।

जैन मान्यता में आराध्यदेव को सर्वज्ञ, वीतरागी और हितोपदेशी बताया है। वीतरागी प्रभु की भक्ति, स्तुति, और निन्दा समानकोटि की हैं। फिर भी उनके पुण्य गुणों का स्मरण, श्रवण, दर्शन एवं कीर्त्तन स्थायी भावात्मक आनन्द का उद्रेक करता है जिससे मानव पशुलोक से परे शुद्ध लोकोत्तर मानव लोक में पहुँच जाता है। स्वामी समन्तभद्र ने अपने स्वयंभूस्तोत्र में इसी बात को स्पष्ट किया है—

न पूजयार्थस्त्वयि वीरतागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥

साहित्यिक दृष्टिकोण से विश्लेषण करने पर हम इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि जो भक्ति के अतलतल में जिस गहराई तक डुबकियाँ लगाने में समर्थ है वह उतने ही उत्कृष्ट पूजा साहित्य का सृजन कर सकता है। बुद्धिमान व्यक्ति अपने साध्य को प्राप्त करने के लिये नाना प्रकार के साधनों को जुटाता है तथा उनके अन्वेषण एवं प्राप्त करने में जरा भी प्रमाद नहीं करता। अपनी आकांक्षाओं और स्वयं को तद्रूप करने के लिये वह साध्य को एक सुनिश्चित आकार में देखता है और अपने अन्तस्थल रूप असीम चितपिण्ड करण्ड को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि मनुष्य से भावात्मक सम्बन्ध रखने वाले अनुभवों की आनन्द प्रदायिनी सुन्दर शब्दमयी अभिव्यक्ति पूजा-साहित्य है। इसके द्वारा मानवजाति को शान्ति और सुख मिलता है, और वह भौतिकवाद को त्याग आध्यात्मिक वाद की ओर अग्रसर होती है। संसार से संतप्त व्यक्ति के लिये उपासना ही एक कल्याण कारी आश्रय है, इससे उसका हृदय दोना भक्ति रूपी कोमल सुमनों से भर जाता है और वह जीवन संग्राम में सक्रिय भाग लेता हुआ भी आध्यात्मिक क्षेत्र को प्राप्त करने में सफल होता है। वह निरासक्त और निरपेक्ष हो अपनी अन्तरात्मा के साथ मन्त्रणा करता है, उसके सामीप्य को प्राप्त करता है तथा अन्त में उसी विशुद्ध निर्विकार, अखण्ड, ज्ञान-दर्शन मय चैतन्य आत्मा को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

यद्यपि भक्ति राग का अंश है, क्योंकि श्रद्धा और प्रेम के योग का मिश्रण भक्ति कहलाता है। जब पूज्य भाव की वृद्धि के साथ श्रद्धा भाजन के सामीप्य लाभ की प्रवृत्ति हो, उसके साक्षात्कार की इच्छा हो तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिये। पर यह राग भी वीतरागता की प्राप्ति में सहायक है, जिस प्रकार रेखागणित के सिद्धान्तों की शिक्षा देते समय, ऐसी रेखा की कल्पना करने के लिये जो अनादि, अनन्त और बिना लम्बाई, चौड़ाई की है, किसी कल्पित लम्बाई, चौड़ाई वाली रेखा द्वारा समझाया जाता है, उसी प्रकार ऐसे प्रभु की भक्ति द्वारा जो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख आदि गुणों का धारी, वीतरागी है उसके उक्त गुणों की प्राप्ति के लिये प्रयास किया जाता है। प्रारम्भिक आत्मशुद्धि के विकास में रागरूप भक्ति या पूजन बड़ी सहायक है।

## दि० जैन-पूजा-साहित्य की विशेषता

"यों तो सभी सम्प्रदायों में पूजा-साहित्य पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है तथा सभी सम्प्रदायों के उक्त साहित्य में अपने-अपने आराध्य देव की महत्ता स्वीकार करते हुए उसके चरणों में अपने को अर्पण किया गया है। लेकिन दि० जैन पूजा-साहित्य में आराध्यदेव के गुणों का

स्मरण एवं मनन किया गया है, इसमें किसी देव विशेष की पूजा नहीं का गई है, बल्कि आत्मिक गुणों की पूजा की गई है। यहाँ पूजा से आत्म निर्मलता की प्राप्ति अभिप्रेत है। अतः जैन पूजा की विशेषता परमात्म गुणों की प्राप्ति अथवा अपने आत्मीय गुणों की प्राप्ति की भावना है। यह भावना जितनी अधिक दृढ़, प्रकर्ष एवं विशुद्ध होगी सिद्धि भी उतनी ही अधिक निकट होती जायगी।

आत्मा स्वभाव से अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख एवं अनन्तवीर्यादि शक्तियों की धारक हैं; पर अनादि कर्म मल से मलिन होने के कारण उसकी वे समस्त शक्तियाँ आच्छादित हैं तथा यह आत्मा सांसारिक मोहजाल में इतनी लिप्त है कि उन शक्तियों के विकास का इसे भान नहीं होता। ज्ञानावरणीय और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से जो थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त होता है, उसमें यह जीव मस्त रहता है। लेकिन जो संसारी जीव आत्मज्ञान का इच्छुक हो प्रबल ध्यान के बल से समस्त कर्ममल को दूर कर देता है उसमें आत्मा की सम्पूर्ण अनन्त ज्ञानादिक स्वाभाविक शक्तियाँ सर्वतो भाव से विकसित हो जाती हैं और तब वह आत्मा स्वच्छ तथा निर्मल होकर परमात्म पद को प्राप्त होती है। श्रीकुमुदचन्द्राचार्य ने कल्याणमन्दिर स्तोत्र में कहा भी है—

ध्यानाज्जिनेश भवतो भविनः क्षणेन,
देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके,
चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः॥

उक्त परमात्मस्वरूप सभी आत्माओं के लिये अभीष्ट है; अतः परमात्मस्वरूप या आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिये परमात्मा की पूजा, भक्ति और उपासना करना प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्त्तव्य है। परमात्मा का ध्यान एवं उनकी भक्ति निजात्मा की याद दिलाती है। पूजन, स्तवन एवं ध्यान द्वारा आत्मा यह समझने में समर्थ होता है कि मैं कौन हूं? मेरी शक्ति क्या है? जड़कर्म किस प्रकार मुझसे आबद्ध हैं? मैं इनसे कैसे मुक्त हो सकता हूँ? तात्पर्य यह है कि जैन मान्यता में परमात्मा को प्रसन्न करने, या उनसे कुछ वर पाने अथवा सांसारिक विषय कषायों को पुष्ट करने के लिये पूजा नहीं की जाती है, किन्तु आत्मस्वरूप की प्राप्ति एवं परमात्मा के उपकार का स्मरण करने के लिये पूजा की जाती है।

## दि० जैन-संस्कृत-पूजा-साहित्य का क्रमिक विकास

उपलब्ध पूजा-साहित्य में सबसे प्राचीन ग्रन्थ चौथी शताब्दी के आचार्य यशोनन्दी के हैं, आपने पञ्चपरमेष्ठी पूजा, धर्मचक्रपूजा आदि ग्रन्थ लिखे हैं। इसकाल में और भी कई पूजा ग्रन्थ लिखे गये हैं, पर उनमें से आज बहुत थोड़े उपलब्ध हैं। यों तो पूजा साहित्य का

आरम्भ विक्रम सं० की पहली शताब्दी में ही हो चुका था। स्वामी समन्तभद्र जैसे दार्शनिकों ने भी पूजा की महत्ता बताई है तथा गृहस्थ के लिये दैनिक कर्त्तव्य में प्रधान अंग बताया है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि जिस प्रकार दर्शन, काव्य, व्याकरण आदि विषयों का साहित्य प्राचीन है उसी प्रकार पूजा साहित्य भी प्राचीन है। छठवीं, सातवीं और आठवीं शताब्दी में अभयनन्दी, ललितकीर्ति, पद्मनन्दी आदि आचार्यों ने अनेक पूजा ग्रन्थों की रचना की है। इन शताब्दियों में व्रतपूजा और व्रतोद्यापन सम्बन्धी रचनाएँ भी हुई हैं। पर इस काल तक प्रतिष्ठा एवं आराधना सम्बन्धी रचनाएँ बहुत कम मिलती हैं। वि० सं० १२४१ में होने वाले अप्पार्य ने अपने विद्यानुवादाङ्ग ग्रन्थ में वीराचार्य, पूज्यपाद, जिनसेन, गुणभद्र, वसुनन्दी, इन्द्रनन्दी, आशाधर, हस्तिमल्ल और एकसन्धि इन नौ प्रतिष्ठा ग्रन्थकारों का उल्लेख किया है। आपने बताया है कि उपर्युक्त नौ आचार्यों के प्रतिष्ठाग्रन्थों का सार लेकर ग्रन्थ रचना की जा रही है—

वीराचार्यसुपूज्यपादजिनसेनाचार्यसंभाषितो-
यः पूर्वं गुणभद्रसूरिवसुनन्दीन्द्रादिनन्द्यूर्जितः।
यश्चाशाधरहस्तिमल्लकथितो यश्चैकसंधोरितः
तेभ्यस्त्वाहृतसारमार्यरचितः स्याज्जैनपूजाक्रमः॥

इससे स्पष्ट है कि तेरहवीं शताब्दी के पूर्व प्रतिष्ठा ग्रन्थों की रचना पर्याप्त मात्रा में हो चुकी थी। १५ वीं, १६ वीं और १७ वीं शताब्दी में तो संस्कृत-पूजा-साहित्य का निर्माण विपुल परिमाण में हुआ, इस काल में होने वाले प्रायः सभी भट्टारकों ने पूजा साहित्य का सृजन किया। क्योंकि इस काल की भट्टारक परम्परा प्रकाण्ड विद्वान् होने के साथ-साथ जैन शासन की रक्षिका थी। भारत के इतिहास में यह समय धर्मसंकट का माना गया है, इसमें मुसलमान इतर धर्मवालों के साथ अन्याय एवं अत्याचार करते थे अतः लोग भगवान् की शरण को ही सर्वोपरि आश्रय मानते थे। इसीसे इस समय में पूजा या भक्ति साहित्य का निर्माण विशेष रूप से हुआ। जैन परम्परा की दृष्टि से विचार करने पर अवगत होगा कि इस भट्टारक युग में आसाता के उदय से आगन्तुक उपद्रवों की शान्ति के लिये आराधना ग्रन्थ तथा यक्ष, यक्षिणियों के पूजा ग्रन्थ भी लिखे जाने लगे थे। क्योंकि उस समय की उपासना पद्धति का हेतु आत्मा की निर्मलता के साथ साथ असाताजन्य दुर्घटनाओं की शान्ति करना भी था। इस समय ग्रन्थों की पूजा के ग्रन्थ भी रचे गये थे। त्रिलोकसार पूजा, समयसार पूजा, गोम्मटसार पूजा, आदि पूजा ग्रन्थों से स्पष्ट है कि उस समय भक्ति भावना या श्रद्धा-बुद्धि का बड़ाभारी प्राबल्य था। जो व्यक्ति इतर धर्मों के चमत्कार से प्रभावित होकर उधर की उपासना पद्धति एवं क्रियाकाण्ड की ओर झुक रहे थे, भट्टारक परम्परा ने उनकी बड़ी रक्षा

की ओर जैन साहित्य में भी वैसे ग्रन्थों की रचना कर उन्हें इस ओर आकर्षित किया। अतएव स्पष्ट है कि १५ वीं शताब्दी से लेकर १९ वीं शताब्दी तक विपुल परिमाण में पूजा ग्रंथ रचे गये। दि० जैन-संस्कृत-पूजा साहित्य के अबतक के उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या लगभग ५९० के है, जिनमें २०० ग्रंथ रचयिताओं के नाम सहित मिलते हैं। ऐसे भी कई ग्रन्थ हैं जिनमें एक ही ग्रन्थ के रचयिता कई आचार्य हैं।

## दि० जैन संस्कृत-पूजा-साहित्य की सूची

१ अकलंक संहिता (प्रतिष्ठा पाठ) अकलंकदेव भट्टारक (पौरवाड़ जातीय सं० १२५६)
२ अङ्कुरारोपण विधान—इन्द्रनन्दि (नन्दिसंघीय वि० सं० ९९०)
३ अनन्तनाथ पूजा—ब्र० शान्तिदास।
४ अनन्तव्रत पूजा—ब्र० जिनदास (वि० सं० १५१०), श्रीभूषण भट्टारक, ब्र० शान्तिदास।
५ अनन्तव्रतपूजा व उद्यापन—गुणचन्द्राचार्य (वि० सं० १६००), श्रीभूषण भट्टारक, ब्र० शान्तिदास।
६ अनन्तव्रतोद्यापन—रत्नचन्द्र भट्टारक (वि० सं० १६००), धर्मचन्द्र भट्टारक गुणचन्द्र भट्टारक ( वि० सं० १६०० ), ब्र० जिनदास ( वि० सं० १५१० )
७ अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ पूजा—नेमिदत्त यति (नेमिनाथ पुराण के रचयिता वि० सं० १५७५)
८ अभिषेक पूजन—केशवनन्दन।
९ अर्हत्प्रतिष्ठासार—कौमारसेन ( वि० सं० ७७० )
१० अर्हंकाराक्षर पूजा—
११ अष्टाह्निकासर्वतोभद्र पूजा—कनककीर्त्ति भट्टारक।
१२ अष्टाह्निका सिद्धचक्र व्रतोद्यापन—महाचन्द्र सूरि (वि० सं० ९७४)
१३ अष्टाह्निकोद्यापन—कनककीर्त्ति भट्टारक, धर्मकीर्त्ति भट्टारक, ( धनञ्जय कृत द्विसन्धान काव्य की टीका के रचयिता ), श्रुतसागर ( यशस्तिलक की टीका के रचयिता ), सकलकीर्त्ति ( द्वितीय )
१४ आदित्यवार व्रत पूजा—भ० देवेन्द्रकीर्त्ति (सांगानेर पट्ट के भट्टारक वि० सं० १६६२, ग्रन्थलिपि सं० १८५२ श्लो० २४० )
१५ आदित्यव्रतोद्यापन—भ० देवेन्द्रकीर्त्ति (श्लो० १५०)
१६ आराधनासार—देवसेन (काष्ठासंघी)
१७ इन्द्रध्वजपूजा—भ० विश्वभूषण (वि० सं० १८१०), शुभचन्द्र (त्रिविधविद्याधरषट्भाषा-कवि चक्रवर्ती वि० सं० १६८०-सागवाड़ा पट्टाधीश)

१८ ऋषिमण्डल पूजा—गुणनन्दि भट्टारक, वीर पंडित।

१९ ऋषिमण्डल स्तवन व पूजन—ब्र० जिनदास, म० विश्वभूषण।

२० कर्मचूरोद्यापन—लक्ष्मीसेन।

२१ कर्मदहन पूजा—शुभचन्द्र, जिनचन्द्र मुनि (अग्रवाल जातीय वि० सं० १५०७) सोमकीर्त्ति (सप्तव्यसन चरित्र के रचयिता), सोमदत्त।

२२ कर्मदहनाराधना विधान—कल्याणकीर्त्ति।

२३ कलशारोहण पूजा—मोहन पंडित।

२४ कलिकुण्डपूजा—श्रुतसागर, पद्मनन्दि म० (वि० सं० १३६२), देवराज (ग्रन्थ की श्लो० सं० २००)

२५ कल्याणमन्दिरोद्यापन—सुरेन्द्रभूषण (वि० सं० १८८२), देवेन्द्रकीर्त्ति (सांगानेर पट्ट के भट्टारक)

२६ काञ्जीद्वादश्युद्यापन—खुशाल पंडित।

२७ केवलचान्द्रायणोद्यापन—देवेन्द्रकीर्त्ति।

२८ क्षमावणीपूजा—ब्रह्मसेन।

२९ क्षीरोदानी पूजाष्टक—अमयचन्द्र।

३० क्षेत्रपालपूजा—देवेन्द्रकीर्त्ति म०, विश्वसेन म०

३१ गणधरवलयपूजा—हस्तिमल्ल पंडित, शुभचन्द्र (त्रिविधविद्याधरषट्भाषाकविचक्रवर्ती, सागवाड़ा पट्टाधीश, वि० सं० १६८०), धर्मकीर्त्ति भट्टारक, पद्मनन्दि भट्टारक (वि० १३६२), प्रभाचन्द्र म० (वि० सं० १५८०)

३२ गणधरवलय यंत्रपूजा—राजकीर्त्ति सूरि।

३३ गन्धकुटी पूजा—शुभचन्द्र म०, पं० आशाधर।

३४ गुरुपूजा—जसकीर्त्ति।

३५ गोम्मटसार पूजा—श्रुतसागर (यशस्तिलक के टीकाकार), रायमल्ल।

३६ चतुर्दशी विधान—विद्यानन्दि मुनि (जयसिंह राजा के मंत्री ताराचन्द्र के प्रतोद्यापन के लिये रचना की है—ग्रन्थ प्रमाण १५ पत्र)

३७ चतुर्दश्युद्यापन—सुरेन्द्रभूषण।

३८ चतुर्मुख पूजा—ऋषिकेश।

३९ चतुर्विंशतिपूजा—श्रीभूषण, शुभचन्द्र, रामचन्द्र मुमुक्षु।

४० चतुर्विंशत्युद्यापन—जिनदास।

४१ चतुस्त्रिंशदुत्तर द्वादशशतोद्यापन—जिनदास।

४२ चतुस्त्रिंशदधिक द्वादशशतोद्यापन—शुभचन्द्र ।
४३ चन्दनषष्ठीपूजा—लक्ष्मीसेन, वज्रकीर्त्ति ।
४४ चन्दनषष्ठ्युद्यापन—देवसेन भ०, सोमकीर्त्ति ।
४५ चन्द्रप्रभदेव पाठ—देवसेन
४६ चन्द्रप्रभदेव पूजा—अज्ञात
४७ चमत्काराख्य आदिनाथ पूजा—
४८ चारित्रशुद्धि पूजा—श्रीभूषण मुनि ।
४९ चारित्रशुद्धि तपोद्यापन—शुभचन्द्र ।
५० चिन्तामणि पूजा—शुभचन्द्र ।
५१ चिन्तामणि पार्श्वनाथ पूजा—सोमसेन ।
५२ चिन्तामणि यंत्र पूजा—शुभचन्द्र ।
५३ चौबीसी पूजा—माघनन्दी व्रती ।
५४ जम्बूद्वीपस्थ अकृत्रिम जिनपूजा—लक्ष्मीसागर शिष्य पं० जिनदास ।
५५ जम्बूद्वीप पूजा—ब्र० जिनदास ।
५६ जिनगुण सम्पत्तिव्रत पूजा—श्रुतसागर ।
५७ जिनगुण सम्पत्त्युद्यापन—विशालकीर्त्ति पुत्र विश्वभूषण भट्टारक, सुमतिसागर ।
५८ जिनयज्ञकल्प—आशाधर, भावशर्मा, शुभचन्द्र ।
५९ जिनसहस्रनाम पूजा—धर्मभूषण ।
६० जिनेन्द्रदेवशास्त्रगुरु पूजा—विश्वसेन ।
६१ जैनपूजा पद्धति—गुणचन्द्र भट्टारक ।
६२ जैन महाभिषेक पूजा—पूज्यपाद ।
६३ जैनेन्द्रयज्ञविधि—श्रुतसागर ।
६४ ज्ञानपञ्चविंशत्युद्यापन—भ० सुरेन्द्रकीर्त्ति ।
६५ ज्येष्ठजिनवर पूजा—ब्र० कृष्णराज (वि० सं० ६७२, ग्रन्थ का लिपिकाल सं० १६४०)
६६ ज्येष्ठजिनवर व्रतोद्यापन—श्रीभूषण कवि ।
६७ ज्वालामालिन्युद्यापन—लक्ष्मीसेन ।
६८ तीसचौबीसी पूजा—धर्मचन्द्र भ०, शुभचन्द्र, भावशर्मा ।
६९ तेरह द्वीप पूजा—शुभचन्द्र ।
७० त्रिकाल चतुर्विंशतिकोद्यापन—गुणनन्दि भ० ।
७१ त्रिकाल चौबीसी पूजा—भ० विद्याभूषण ।

७२ त्रिकुण्डी होमशान्तिक पूजा—रविषण भट्टारक।
७३ त्रिचतुर्विंशति विधान—विद्याभूषण भ०।
७४ त्रिपञ्चाशत्क्रियोद्यापन—देवेन्द्रकीर्त्ति।
७५ त्रिलोकसार पूजा—ललितकीर्त्ति, बामदेव, सुमतिसागर।
७६ त्रिलोकसार महापूजा—सहस्रकीर्त्ति।
७७ त्रेपनक्रियाव्रत पूजा—देवेन्द्रकीर्त्ति अग्रवाल (वि० सं० १६४०—ग्रन्थ प्रमाण २०० श्लो०)
७८ त्रेपनक्रिया व्रतोद्यापन—विक्रम देवेन्द्र अग्रवाल।
७९ दशलक्षण पूजा—धर्मचन्द्र, सुमतिसागर।
८० दशलक्षण पूजा विधान—सोमसेन।
८१ दशलक्षण व्रतोद्यापन—सुमतिसागर, रत्नकीर्त्ति, धर्मचन्द्र, विश्वभूषण।
८२ दुधारस व्रतोद्यापन—श्रीधर्ममुनि।
८३ देवपूजा—पं० शिवचन्द्र (ग्रन्थ प्रमाण ८८—पत्र लि० सं० १९४७)
८४ देशव्रतोद्यापन—पद्मनन्दी।
८५ द्वादशव्रतपूजा—भोजदेव।
८६ द्वादशव्रतोद्यापन—शान्तिदास ब्र०, श्रीभूषण कवि।
८७ धर्मचक्रपूजा—साधु रणमल्ल, यशोनन्दि (द्वितीय वि० सं० ३६८), वीर पंडित।
८८ धर्मबृहद्पूजा—हंस कवि।
८९ नन्दीश्वर पंक्तिपूजा—कनककीर्त्ति।
९० नन्दीश्वर लघुपूजा—देवेन्द्रकीर्त्ति।
९१ नन्दीश्वर विधान—देवेन्द्रकीर्ति।
९२ नन्दीश्वर व्रतोद्यापन विधि—ज्ञानसागर, श्रुतसागर।
९३ नवकार पैंतीस पूजा—भ० सुमतिसागर, अक्षयराम।
९४ नवकार पैंतीस व्रतपूजा—कनककीर्त्ति।
९५ नवग्रह पूजा—इन्द्रनन्दि भट्टारक, बुधवीरु।
९६ नित्यमहोद्योत अभिषेक पाठ—पं० आशाधर।
९७ निर्वाणपूजा—उदयकीर्त्ति।
९८ पञ्चपरमेष्ठी पाठ—आशानन्दी।
९९ पञ्चपरमेष्ठी पूजा—यशोनन्दी (वि० सं० ३६८), शुभचन्द, जिनदास, ज्ञानभूषण।
१०० पञ्चकल्याणक पूजा—सुधीसागर, सुमतिसागर, श्रीचन्द्र (वि० सं० १२१४), ज्ञानसागर, चन्द्रकीर्त्ति (लिपिकाल सं० १८८७), सुरेन्द्रभूषण, मेघराज।

१०१ पञ्चक्षेत्रपाल पूजा—गंगादास।

१०२ पञ्चमास चतुर्दशीव्रतोद्यापन—भ० सुरेन्द्रकीर्त्ति।

१०३ पञ्चमीव्रतोद्यापन—उदयपुत्र हर्षनामा सुधीर (ग्रन्थ प्रमाण ७५ श्लो०)

१०४ पञ्चमेरु पूजा—सुखानन्द।

१०५ पञ्चमेरुपूजाष्टक—विश्वभूषण भ०।

१०६ पद्मावती पूजा—सिंहनन्दी।

१०७ पल्यविधान पूजा—रत्ननन्दि भ० (भद्रबाहु चरित्र के रचयिता), शुभचन्द्र।

१०८ पल्यव्रतोद्यापन—देवेन्द्रकीर्त्ति (सांगानेर पट्ट के भट्टारक), शुभचन्द्र।

१०९ पुष्पाञ्जलि पूजा—रत्नचन्द्र भ० (वि० सं० १६००), देवेन्द्रकीर्त्ति।

११० पुष्पाञ्जल्युद्यापन—गंगादास, छत्रसेन।

१११ पूजाकल्प—अभयनन्दि, जिनसेन, इन्द्रनन्दि, एकसन्धि, रविषेण, द्वितीय पूज्यपाद, चन्द्रकीर्त्ति भ०।

११२ पूजाविधि—लघु समन्तभद्र।

११३ पूजासार—जिनसेन।

११४ प्रतिमासान्तचतुर्दशी व्रतोद्यापन—अक्षयराज।

११५ प्रतिमासंस्कारारोपण पूजा—इन्द्रनन्दि।

११६ प्रतिष्ठाकल्प—प्रभाकरसेन, आशाधर।

११७ प्रतिष्ठाकल्पटिप्पण (जिनसंहिता)—माघनन्दी सुत कुमुदचन्द्र (ग्रन्थ प्रमाण —पत्र संख्या ३९)

११८ प्रतिष्ठातिलक—नरेन्द्रसेन, ब्रह्मसूरि, देवसेन काष्ठासंघी, नेमिचन्द्र कवि।

११९ प्रतिष्ठापाठ—प्रभाचन्द्र, पूर्णदेव, इन्द्रनन्दि, जयसेन।

१२० प्रतिष्ठासार—वसुनन्दी।

१२१ प्रतिष्ठासारसंग्रह—फतेहलाल।

१२२ बीस विरहमानपूजा—ब्रह्मदास, अमरचन्द्र (ग्रन्थप्रमाण ३१ पत्र)

१२३ बुद्धाष्टम्युद्यापन—देवेन्द्रकीर्त्ति भ०।

१२४ बृहद् कलिकुण्ड पूजा—भ० विद्याभूषण।

१२५ बृहद् ध्वजारोपणपूजा—केसरीसिंह पण्डित।

१२६ बृहद् सिद्धचक्र पूजा—ब्र० जिनदास।

१२७ बृहद् सिद्धचक्र यंत्रोद्धारक पूजा—प्रभाचन्द्र।

१२८ बृहद् सिद्धचक्रविधान—वीरु कवि अग्रवाल।

१२९ भक्तामरस्तवन पूजा—श्रीभूषण शिष्य भ० ज्ञानसागर।
१३० भक्तामरोद्यापन—सुरेन्द्रभूषण भ०।
१३१ महाभिषेक विधि व पूजन—पं० नरेन्द्रसेन।
१३२ मांगीतुंगी गिरिपूजा—विश्वभूषण भ०।
१३३ मातृकायंत्र पूजा—इन्द्रनन्दि।
१३४ मुक्तावलीव्रतपूजा—ब्र० जीवन्धर।
१३५ मुक्तावल्युद्यापन—रत्नकीर्त्ति भ०, खुशाल पंडित।
१३६ मेघमालोद्यापन—ब्र० जिनदास।
१३७ यति भावनाष्टक—पद्मनन्दी।
१३८ योगीन्द्रपूजा—पं० साधारण।
१३९ रत्नत्रयपूजा—नरेन्द्रसेन।
१४० रत्नत्रय बृहत्पूजा—धर्मचन्द्र भ०।
१४१ रत्नत्रयार्चन विधि—मल्लिषेण।
१४२ रविव्रतोद्यापन—भ० महीचन्द्र, ब्र० जयसागर।
१४३ रोहिणीव्रतोद्यापन—भ० प्रभाचन्द्र।
१४४ लब्धिविधान—सकलकीर्त्ति द्वितीय।
१४५ लब्धिविधानोद्यापन—विद्याधर।
१४६ विघ्नहर पार्श्वनाथ पूजा—भ० महीचन्द्र।
१४७ विद्यानुवादाङ्ग (जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय)—अप्पयार्य (वि० सं० १२४१ माघ शुक्लादशमी रविवार को एकशैल नामक ग्राम में इसकी रचना हुई है)
१४८ विमानशुद्धिपूजा—चन्द्रकीर्त्ति
१४९ विमानशुद्धि शांतिक पूजा—शुभचन्द्र।
१५० विवाहपटलपूजा—ब्रह्मदेव।
१५१ विंशति तीर्थंकरपूजा—नरेन्द्रकीर्त्ति।
१५२ विषपहार पूजाविधान—देवेन्द्रकीर्त्ति।
१५३ व्रतोद्यापन श्रावकविधि—अभयमुनि।
१५४ शान्तिचक्रपूजा—पद्मनन्दि, इन्द्रनन्दि।
१५५ शान्तिपूजाविधान—धर्मदेव काष्ठासंघी।
१५६ शास्त्रपूजा—मलयकीर्त्ति।
१५७ शीतलगंगाष्टक—यशोनन्दि।

१५८ शुक्लपञ्चम्युद्यापन—सोमसेन ।
१५९ श्रुतस्कन्धपूजा—भ० त्रिभुवनकीर्त्ति, पं० आशाधर ।
१६० श्रुतस्कन्धोद्यापन—नक्षत्रदेव ।
१६१ श्रुतज्ञानोद्यापन—वामदेव ।
१६२ श्रेयस्करणोद्यापन—भ० सुरेन्द्रभूषण ।
१६३ श्रेयोविधान—अभयनन्दि ।
१६४ षट्चतुर्थजिनोचन—शिवाभिराम (ग्रन्थ प्रमाण—पृ० ९५, लिपिकाल सं० १९३८)
१६५ षण्णवतिक्षेत्रपालपूजा—भ० विश्वभूषण ।
१६६ षोड़शकारण विस्तार पूजा—भ० ज्ञानभूषण शिष्य जयभूषण ।
१६७ षोड़शकारणव्रतोद्यापन—केशवाचार्य, सुमतिसागर ।
१६८ सप्तमपरमस्थानपूजा—विद्यानन्दि मुनि ।
१६९ समयसारपूजा—शुभचन्द्र ।
१७० समवशरण पूजा—रत्नकीर्त्ति ।
१७१ सम्मेदशिखर पूजा—गंगादास ।
१७२ सरस्वती पूजा—मल्लिभूषण शिष्य श्रुतसागर, ब्र० नेमिदत्त ।
१७३ सर्वतोभद्रपूजा—शुभचन्द्र ।
१७४ सर्वदोषप्रायश्चित्त पूजा—महेन्द्रकीर्त्ति ।
१७५ सहस्रगुणपूजा—धर्मकीर्त्ति ।
१७६ सहस्रगुणीपूजा—धर्मचन्द्र ।
१७७ सहस्रनामपूजा—खड्गसेन ।
१७८ सारस्वतयंत्रपूजा—शुभचन्द्र, श्रुतसागर ।
१७९ सार्द्धद्वयद्वीपपूजा—शुभचन्द्र, सुरेन्द्रभूषण, जिनदास ।
१८० सिद्धचक्रपूजा—प्रभाचन्द्र, ललितकीर्त्ति, देवेन्द्रकीर्त्ति, पं० आशाधर ( इसकी स्वोपज्ञ टीका भी है )
१८१ सिद्धचक्र की बृहद् पूजा—भानुकीर्त्ति, शुभचन्द्र ।
१८२ सिद्धचक्रसहस्रगुणितपूजा—शुभचन्द्र ।
१८३ सिद्धचक्रयंत्रोद्धारस्तवन पूजा—भ० विद्याभूषण ।
१८४ सिद्धपूजा—पद्मनन्दि, सोमदत्त ।
१८५ सुखसम्पत्तिव्रतोद्यापन—भ० सुरेन्द्रभूषण ।
१८६ सुगन्धदशम्युद्यापन—पद्मनन्दि, गंगादास ।

१८७ सूत्रोद्यापन—विजयसेन ।

१८८ स्थापित्यहोमपूजा—सोमसेन भ० ।

१८९ स्नपनविधि व पूजा—भ० अभयनन्दि ।

१९० स्वयंभूसहस्रनाम पूजा—धर्मचन्द्र भ० ।

१९१ हेमकारी जिनपूजा—विश्वभूषण भ० ।

१९२ होमविधि व वास्तुपूजन—इन्द्रनन्दि ।

उपर्युक्त पूजा ग्रंथों के अतिरिक्त ऐसे भी अनेक ग्रन्थ हैं जिनके कर्त्ताओं का पता नहीं है। श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन आरा के शास्त्रागार में उक्त ग्रन्थों की संख्या लगभग ८०-९० के है तथा A Descriptive catlogue of the sanskrit manuscripts in the Government oriental manuscripts library Madras में लगभग ४०-५० अज्ञातकर्त्ता के ग्रन्थों का उल्लेख है। जानकारी के लिये उक्त ग्रन्थों में से कुछ पूजाग्रन्थों की प्रशस्तियाँ दी जाती हैं—

१ **वज्रपञ्जरराधनाविधान**—इस ग्रन्थ में ७ इञ्च लम्बे और ६ इञ्च चौड़े ६ पत्र हैं। इसमें सर्व प्रथम चन्द्रप्रभ प्रतिबिम्ब का अभिषेक, भूमिशुद्धि, पंचगुरुपूजा और चत्तारि अर्घ्य का विधान बतलाया गया है। इसके अनन्तर चन्द्रप्रभ भगवान् की पूजा, उनकी स्तुति, श्यामयक्ष, ज्वालामालिनी यक्षी की पूजा, पञ्चपरमेष्ठी की पूजा तथा अन्य अधिष्ठात्री देवियों की पूजा दी गई है।

प्रारम्भिक भाग—

चन्द्रपुराम्बुधिचन्द्रं चन्द्रार्कं चन्द्रकान्तसंकाशम् ।
चन्द्रप्रभजिनमंचे कुन्देन्दुस्मारकीर्त्तिकान्ताशान्तम् ॥
ॐ ह्रीं चन्द्रप्रभजिनदेवागच्छ—
तीर्थोपनीतघनसारशोलैः पातप्रपाद्यैः घुसृणाद्युपेतैः ।
चन्द्रप्रभाभास्करदिव्यदेहं महामि चन्द्रप्रभतीर्थनाथम् ॥
ओं ह्रीं चन्द्रप्रभजिनदेवाय जलं निर्वपामीति स्वाहा—
सुगन्धसारैघनगन्धसारैः सिताभ्रभारैः सितधामगौरैः ।
चन्द्रप्रभाभास्करदिव्यदेहं महामि चन्द्रप्रभतीर्थनाथम् ॥गन्धम्॥

अन्तिम भाग—

यस्यार्थं क्रियते पूजा सुप्रीतो नित्यमस्तु ते ।

ॐ ह्रीं रं रं रं रं ज्वालामालिनी ह्रां आं क्रों क्रों ह्रीं क्लीं ब्लूं द्रां द्रीं ह्रलवरयूं ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रौं ह्रः ज्वल ज्वल प्रज्वल प्रज्वल धग धग धूं धूं धूम्रान्धकारिणी शीघ्रं यन्त्राधिपतये देवदत्तास्य सर्वग्रहोच्चाटनं कुरु कुरु ह्रूं फट् नमः स्वाहा । मन्त्रपुष्पम्—

२. **कलिकुण्डाराधना विधान** इसमें ६½ इञ्च लम्बे और ६ इञ्च चौड़े १३ पत्र हैं। इसके प्रारम्भ में कलिकुण्डयंत्र पार्श्वनाथ की प्रतिमा का अभिषेक, भूमिशुद्धि, पञ्चगुरु पूजा एवं चत्तारि अध्यों का कथन है। उसके पश्चात् पार्श्वनाथ पूजा, इनकी मंत्रस्तुति धरणेन्द्र यक्ष और पद्मावती की पूजा तथा इनके मंत्रस्तोत्र दिये गये हैं। ग्रन्थ के अन्त में यन्त्रस्थ पिण्डाक्षरों का अर्घ्य, अष्टमात्रिका की पूजा, मन्त्रपुष्प एवं जयमाला आदि हैं।

प्रारम्भिक भाग—

सत्पुष्पधान्ना प्रविराजितेन पुष्पेण पूर्णेन सुपल्लवेन ।
सन्मङ्गलार्थं कलिकुण्डदेवमुपागुभूमौ समलङ्करोमि ॥

( कलशस्थापनम् )

शुद्धेन शुद्धहृदकूपबापी गङ्गातटाकादिसमावृत्तेन ।
शीतेन तोयेन सुगन्धिवाहं भक्त्याभिषिञ्चे कलिकुण्डयन्त्रम् ॥

( तीर्थोदकाभिषेकः )

नीरैः सुगन्धैः कमलाक्षतौघैः पुष्पैर्हविर्भिर्वरधूपधूमैः ।
भास्वत्फलार्घ्यैः कलिकुण्डयन्त्रं सम्पूजयाम्यष्टतया सुभक्त्या ॥

अन्तिम भाग —

कलिलदहनदक्षं योगियोगोपलक्षम् ।
ह्रविकुलकलिकुण्डो दण्डपार्श्वप्रचण्डम् ।
शिवसुखममवद्वा दासवल्लीवसन्तम् ।
प्रतिदिनमहमीडे वर्धमानस्य सिद्ध्यै ॥

३. **मृत्युञ्जयाराधना विधान**—इसमें ६⅛ इंच लम्बे और ६ इंच चौड़े ७ पत्र हैं। इसके आरम्भ में चन्द्रनाथ, श्रुत, गणधर एवं मृत्युञ्जय यंत्र का अभिषेक एवं भूमिशुद्धि, चत्तारि अर्घ्य, चन्द्रप्रमुस्वामी की पूजा निर्दिष्ट की गई है। इसके अनन्तर यक्ष, यक्षिणी की पूजा, मृत्युञ्जय मंत्र पूजा, एवं अष्टमातृकापूजा आदि हैं।

प्रारम्भिक भाग—

चन्द्रनाथश्रुतगणधरमृत्युञ्जययन्त्रमित्येतेषामभिषेकं कृत्वा भूमिशुद्धिचत्तार्यर्घ्यानन्तरं चन्द्रप्रभपूजा—

चन्द्रपुराम्बुधिचन्द्रं चन्द्रार्कं चन्द्रकान्तसंकाशम् ।
चन्द्रप्रभजिनमंचे कुन्देन्दुस्फारकीर्तिकान्ताशान्तम् ॥
नानामणिप्रचयभासुरकण्ठपीठभृंगारनालकलितामलदिव्यतोयैः ।

संसारतापविनिवारणहेतुभूतं श्रीचन्द्रनाथपदपद्मयुगं यजेऽहम् ॥
(जलं० नि०)

नाकाङ्गनाकरसरोरुहमध्यवर्त्तिकर्पूरकुंकुमविमिश्रितदिव्यगन्धैः ।
मुक्तोपमानवरगन्धरमासमेतं श्रीचन्द्रनाथपदपद्मयुगं भजेऽहम् ॥
( गन्धं नि० )

अन्तिम भाग—

अत्यन्तभक्त्यानतदेवचन्द्रसूर्याभिवन्द्याग्रजिनेन्द्रभक्ता
ब्रह्माणिकाद्या उररीकृतार्घ्या सर्वोपमृत्युं विनिवारयन्त्यः ॥
ॐ ह्रीं अष्टमातृकाभ्यः पूर्णार्घ्यं निर्वपामि स्वाहा ।
आणिमादिगुणैश्वर्यशालिन्येत्यष्टमातरः ।
याजकानां सुशान्त्यथ सुप्रसन्ना भवन्तुताः । इष्टप्रार्थनाय पुष्पाञ्जलिः ।

४. **जिनपुरन्दरोद्यापन**[1]—इसमें १५ इंच लम्बे और ४½ इंच चौड़े ९ पत्र हैं। इसके प्रारम्भ में आदिनाथ भगवान् को नमस्कार किया गया है तथा पुरन्दरव्रत का लक्षण बतलाया है, इसके अनन्तर पुरन्दरव्रत की पूजा के लिये जिनेन्द्र भगवान् की स्थापना एवं पूजा है अन्त में भगवान् के अतिशयों के अष्टक हैं।

प्रारम्भिक भाग—

श्रीमदादिजिनं नौमि पञ्चकल्याणनायकं ।
इन्द्रादिभिर्देवगणैः पूजितमष्टधाश्चतैः ॥
श्रीवीरजिननाथेन कथितं व्रतमुत्तमम् ।
वक्ष्येऽहं विघ्नशान्त्यर्थं जिनपूजापुरन्दरम् ॥

अन्तिम भाग—

धर्मबृद्धिजयमंगलमानराजऋद्धिप्रददाति समागम् ।
पापतापदुःखरोगविनाशं कुर्वते जिनपुरन्दरवासः ॥इत्याशीर्वादः॥

५. **अक्षयनिधिव्रतोद्यापन**—इसमें १० इञ्च लम्बे और ७ इंच चौड़े ५ पत्र हैं। यह एक गुटमें हैं, जिसमें २५-२६ उद्यापन हैं। इसके प्रारम्भ में व्रतविधि बताई गई है, अनन्तर अर्हन्त पूजा है तथा अन्त में २४ भगवानोंके अष्टक हैं।

प्रारम्भिक भाग—

श्रीसर्वज्ञपादाम्भोजम्, इन्द्रनागेन्द्रपूजितम् ।
वाञ्छितार्थफलं नूनं, अक्षयाक्षविधानकम् ॥

---

१ लेख लिखे जाने के बाद पता चला है कि इस जिनपूजापुरन्दर के कर्त्ता सोमसेन हैं।
लेखक—

आगमव्रतमायुष्मान्, यथावत्संगिराम्यहम् ।
धर्मार्थरागिनो जाते, सुखस्वर्गापिवर्गकम् ॥

अन्तिम भाग--

अभिप्रणीताभिरतीवसद्भाविशुद्धकर्पूररजोयुताभिः ।
यजाम्यहं सर्वसुखार्थ हेतोः जिनेन्द्रबिम्बं भवनाशनाय ॥
ॐ ह्रीं श्री चतुर्विंशतिजिनेभ्यो नमः, अक्षयपदनिधानेभ्यो नमः जलं ।
सच्चन्दनैर्लोहितचन्दनाद्यैः, सिताभ्रकालागुरुजातमिश्रैः ।
यजाम्यहं सर्वसुखार्थहेतोः जिनेन्द्रबिम्बं भवनाशनाय ॥गन्धं॥

'भवन' के इस गुटके में ऐसे कई उद्यापन हैं जिनके अष्टक संस्कृत भाषा में हैं और जयमाला अपभ्रंश या हिन्दी में है। उपर्युक्त अक्षयविधानोद्यापन की अन्तिम जयमाला भी हिन्दी में लिखी हुई है जो पीछे जोड़ी हुई मालूम पड़ती है तथा प्रकरण से असम्बद्ध भी जँचती है।

६. **वास्तुविधान** — इसमें ६ इञ्च लम्बे और ५ इंच चौड़े ९ पत्र हैं। इसके प्रारम्भ में अंकुरविधान, नान्दीविधान, आदि का निर्देश करते हुए सकलीकरण आदि क्रियाओं का संक्षिप्त कथन है। इसके अनन्तर ब्रह्म, इन्द्र, वरुण, पवन आदि दश वास्तु देवताओं की पृथक्-पृथक् पूजा है।

प्रारम्भिक भाग—

अथार्हदीशप्रतिमाप्रतिष्ठाविधाननिर्विघ्नसमाप्तिसिध्यै ।
ततोऽङ्कुरार्चादिवसार्द्ध पूर्वे दिने क्षपायां विदधीत नान्दीम् ॥
तत्रापि पर्व विदधीत वास्तु दिवौकसां भेकपदेस्थितानाम् ।
ततः परे वो विधिवत्सपर्यां क्रमेण सामान्यविशेषकल्पाम् ॥
स्नात्वा समाचम्य समेत्यधाम कृत्वा तदेर्यापथशोधनञ्च ।
स्तुत्वा च सिद्धान् सकलीविधानं कृत्वैकनानो रहसि प्रदेशे ॥
कृत्वा समासाज्जिनराजपूजां श्रुतं समाराध्य तथा मुनीन्द्रान् ।
गुरोरनुज्ञां शिरसा गृहीत्वा दत्वानियोगं परिचारकाणाम् ॥
प्रत्यग्रधौतोत्तमशुभ्रवाससकृतान्तरीयं च तथोत्तरीयम् ।
हैमोपवीताङ्गदहारमुद्रिकाकिरीटकर्णाभरणादिभूषितः ॥

अन्तिम भाग—

सम्पूजिता इत्यमरेन्द्रमुख्याः महामहिम्ना प्रतिभासमानाः ।
दशप्रकारोदितभावनेन्द्राः कुर्वन्तु शान्तिं जिनभक्तिकानाम् ॥

मुख्याविमौचन्द्रवदिवाकरौ च शेषग्रहा अश्वयुगादितारा: ।
प्रकीर्णका ज्योतिरमर्त्यवर्गा: कुर्वन्तु शान्तिं जिनभक्तिकानाम् ॥
जिनेन्द्रचन्द्रस्य महामहेऽस्मिन् संपूजिता: कल्पनिकायवासा: ।
सौधर्ममुख्यास्त्रिदशाधिनाथा: कुर्वन्तु शान्तिं जिनभक्तिकानाम् ॥
इष्ट प्रार्थनाय पुष्पाञ्जलि ॥
संस्थाप्य मध्येष्टदिशासुबाह्य जलप्रपूर्णं सहिरण्यं भागम् ।
सुवस्त्रमाल्याध्वजदर्पणाढ्यं कुम्भं यजे वास्तुसमृद्धिसिध्यै ॥
इति वास्तुपूजाविधानं समाप्तम् ।

७. **जैनपूजाविधान**—इसमें १३ इंच लम्बे और २ इञ्च चौड़े ६० ताड़पत्र हैं तथा प्रतिपत्र में ५ पंक्तियाँ हैं। लिपि कन्नड़ और भाषा संस्कृत है। इसमें पूजाविधि का वर्णन विस्तार सहित किया है। तथा पञ्च परमेष्ठी के पृथक् पृथक् अष्टक निर्दिष्ट हैं।

प्रारम्भिक भाग—

संकल्प्याभिषवं विशोध्य भुवमास्थाप्य त्र दर्भान् पुटान्
पीठं बिम्बमिहार्हतं जिनमुपास्याष्टाभिनादिक्रमैः ।
दिक्पालान् परिपूज्य सज्जलमुखैनान्यैः कषायोदकैः
संस्नाप्यान्ववतार्य कोणकलशैर्गन्धोदकैः स्नापयेत् ॥
विधियज्ञप्रतिज्ञापनाय पुष्पाञ्जलिः..... ।
जिनानामपि सिद्धानां महर्षीणां समर्चनात् ।
पठात् स्वस्त्ययनस्यापि पुनः पूर्वं प्रसादयेत् ॥
पुनः प्रशस्तिविधानसूचनार्थमर्चनपीठाग्रतः पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत् ।

अन्तिम भाग—

सिद्धपरमेष्ठिने नमः स्वाहेत्यादि । अथ कर्णिकायानर्चादिशि आचार्य परमेष्ठी पूजा ।
कुमतोतिमिरसूर्यान् सारगाम्भीर्यधैर्यान्
परहितनिजकार्यान् पञ्चभेदोद्धचर्यान् ।
विनयवत [वि] विधीयान् पूजयाम्याहृतार्यान्
मुनिजनपरिवार्यान् श्रीमदाचार्यवर्यान् ॥

८. **जैन-मंत्र-यंत्र-पूजा**—इसमें १४ पत्र और प्रति पत्र ८ पंक्तियाँ हैं। प्रारम्भ में कलशाभिषेक, यन्त्रस्नपन का निर्देश किया गया है पश्चात् यन्त्रपूजा का वर्णन है।

प्रारम्भिक भाग—

निष्ठाप्यैवं जिनानां सवनविधिमनुप्राच्यभूभागमन्यं
पूर्वोक्तैर्यन्त्रमन्त्रैरिह भुवि विधिनाराधनापीठयन्त्रम् ।

कृत्वा सच्चन्दनाद्यैर्वसुदलकमलं कर्णिकायां जिनेन्द्रान्
प्राच्यां संस्थाप्य सिद्धानितरदितिगुरून्मन्त्ररूपान् विधाय ॥
जैनं धर्मागमार्चानिलयमपि विदिश्यत्र मध्ये लिखित्वा
बाह्ये कृत्वाथ चूर्णैः प्रविशदशदकैः पञ्चकृन्मण्डलानाम् ।
तत्रस्थाप्यास्तिथीशा ग्रहसुरपतयो यक्षयक्षीः क्रमेण
द्वारेशा लोकपाला विधिवदिह महं यन्त्रतो व्याह्वयन्ते ॥

अन्तिम भाग—

स्फुरिततरतनुश्रीः ह्री लसद्भृत्युपेता
द्युतिमतिविजयाः सत्कीर्त्तिलक्ष्मीश्च पश्चात् ।
विधृतविविधभूषाविद्रुमद्योतदेहाः
जिनपतिसवनेऽस्मिन् व्याह्वये दिक्पुरन्ध्रीः ॥

ओं ह्रीं क्रों वराहे श्री ह्रीधृतिद्युतिमतिकीर्त्तिबुद्धिलक्ष्म्य आगच्छत ।
यस्यार्थं क्रियते पूजा तस्य शान्तिर्भवेत्सदा ।

९. **जैनहोमोत्सवपूजा**—इसमें ३८ पृष्ठ हैं और प्रति पृष्ठ ५ पंक्तियाँ हैं । प्रारम्भ में शान्तिनाथ भगवान् को पुष्पाञ्जलि दी गई है, अनन्तर वाद्य उद्घोषण पूर्वक पञ्चपरमेष्ठी पूजा, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक चारित्र की पूजा की गई है ।

प्रारम्भिक भाग—

श्रीशान्तिनाथममरासुरमर्त्यनाथ-
भास्वत्किरीटमणिदीधितिधौतपादम् ।
त्रैलोक्यशान्तिकरणप्रवणं प्रणम्य
होमोत्सवाय कुसुमाञ्जलिमुत्क्षिपामि ॥

ओं ह्रीं श्रीं भूः स्वाहा । होमप्रस्तावनपुष्पाञ्जलिः ।

अन्तिम भाग—

औदासीन्यसुशक्तिसंयतमतिक्रोधाधिभावोल्लस-
ज्जीवव्रातविकारदोषहननं कर्मक्षयोत्पादकम् ॥
देवेन्द्रादिनमस्क्रियासमुचितं संसारदुःखापहं-
साक्षान्मोक्षसुखप्रदं प्रविमलं चारित्रमर्चामहे ॥

अर्हत्सिद्धाः सूरयः पाठकेन्द्राः
सर्वेऽप्येते साधवः साधुवन्द्याः ।
सम्यग्दृष्टिज्ञानचारित्रयुक्ताः
श्रेयःकुर्वन्त्वर्चिताः सज्जनानाम् ।, पूर्णार्घ्यम् ॥

१०. जैनाराधनविधि—इसमें १३½ इंच लम्बे और १¼ इंच चौड़े ६२ ताड़पत्र हैं, प्रतिपत्र ५ पंक्तियां हैं। पूजाविधि के साथ जिनेन्द्र पूजा के अष्टक हैं, अन्त में जयमाला है।

रागादिदोषरहितं सुरराजवन्द्यं-
नत्वाजिनेशमखिलामलयोगिसेव्यम्।
पुष्पाञ्जलिं जिनमुखे वयमुत्क्षिपामः
श्रीमूलसङ्घवरभव्यजनप्रशान्त्यै॥

ओं परब्रह्मणे नमो नमः। स्वति, जीव, नन्द, वर्धस्व, विजयस्व, अनुशोधि, पुनीहि पुण्याहं, माङ्गल्यं, पुष्पाञ्जलिं स्वाहा।

अन्तिम भाग—

ओं ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हमिदं पुष्पाञ्जलिं प्रार्चनमिदं गृहीष्वम्। नमोऽर्हद्भ्यः स्वाहा।

शक्रचक्रधराहीन्द्रराजिताङ्घ्रियुगाम्बुजः।
पायादपायाद्भव्यौघं श्रीपतिः श्रीजिनः सदा॥

११. तीर्थंकरपूजा—इसमें २० ताड़पत्र हैं, प्रति पत्र में ७ पंक्तियाँ हैं। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक चौबीस तीर्थंकरों की पूजा का वर्णन है।

आरम्भिक भाग—

आदिनाथोऽस्तु वः स्वस्ति स्वस्ति स्यादजितेश्वरः।
संभवो भविता स्वस्ति भूयात् स्वस्त्यभिनन्दनः॥
स्वस्तिमन्तं स्वयं शाश्वत् सन्तु स्वस्त्ययनं जिनाः।
एतत्सप्तकं पठित्वा पुष्पाञ्जलिं क्षिपामि स्वाहा॥

अन्तिम भाग—

द्वासप्ततिं तीर्थकृतां त्रिकाले त्रिषष्टिसंख्या पुरुषोत्तमानम्।
त्रिलोकसाम्राज्यरमाधिपानां पुष्पोत्तरार्घ्यैर्महयामि देवान्॥

ओं ह्रीं त्रिकालत्रिलोकभव्यजनमहितद्वासप्ततितीर्थकरपरमदेवेभ्यः महार्घ्यं निर्वपामि स्वाहा।

१२. तीर्थङ्करयजनक्रम—इसमें १० पत्र हैं और प्रति पत्र ७ पंक्तियाँ हैं, २४ तीर्थङ्करों के पूजाविधान का वर्णन है।

प्रारम्भिक भाग—

येऽमी सम्प्रति कालभव्यजनता दृष्टामरेन्द्रैर्मुदा-
कल्याणे वृषभादयो जिनवराः संपूजितास्तानिह।
त्रैलोक्याधिपतीन् यजाम्यतिशयोपेतांश्चातुर्विंशतिम्-
शान्त्यर्थं जगतां चराचरगुरूंस्तीर्थङ्करान् साम्प्रतम्॥

ओं ह्रीं वृषभाजितवर्तमानकालचतुर्विंशतितीर्थङ्करपरमदेवान् सलिलमलयजशतक-कुसुमसानाद्यप्रदीपधूपफलस्तवकशान्तिधाराद्यष्टकमङ्गलद्रव्यैराराधयामि स्वाहा। ठकार-वलयाभ्यन्तरे च सोमयमवरुणधनदजिनवेदिद्वारपालनियुक्ताः स्वस्वामिहेत्वनुयोगं कुर्वेस्मिन्।

अन्तिम भाग—

यष्टुं कुक्कटसर्पगात्रिफणकोत्तांसा द्विषां यात्तषट्-
पाशादी सदसत्कृते च धृतशङ्खस्यादिदोस्त्र्यष्टंगा।
तां शान्ता व (म) रुणां स्फुरच्छृणिसरोजन्मात्तमालाम्बरां-
पद्मस्थां नवहस्तकप्रभुनुतां यायजिम पद्मावतीम्॥
भगवन् दुर्मार्गविनाशनपरसन्मार्गपरिपालकयक्षेश्वर स्वाहा।

१३. शान्तिहोमोत्सवविधि—इसमें ७९ पृष्ठ हैं और प्रति पृष्ठ में ५ पंक्तियाँ हैं। सांसारिक अरिष्टों की शान्ति के लिये भगवान् शान्तिनाथ की पूजा की गई है। नवग्रह सम्बन्धी अरिष्टों को दूर करने के लिये सभी ग्रहों के पृथक् पृथक् मंत्र और पूजन भी दिये गये हैं। सांसारिक कष्टों से ऊबने वाले आराधक के लिये यह पूजन शान्तिदायक है, इससे भावुक भक्तों को सन्तोष और शान्ति मिलेगी।

प्रारम्भिक भाग—

श्रीमत्पञ्चमसार्वभौमपदवीं प्रद्युम्नरूपश्रियम्
प्राप्तं षोड़शतीर्थकृत्वमखिलत्रैलोक्यपूजास्पदम्।
शान्तं शान्तजिनेश्वरं त्रिजगतामश्रान्ति (न्त) शान्तिप्रदम्
नत्वा शान्तिविधित्सयाद्य विदधे श्रीशान्तिहोमोत्सवम्॥

ओं ह्रीं श्रीं क्लीं भूः स्वाहा। विधियज्ञप्रतिज्ञानाय पुष्पाञ्जलिः।

× × × ×

ओं ह्रीं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राय स्वाहा—पीठार्चनम्।

संस्थापयाम्युपरि तस्य जिनेश्वराचाँम्।
छत्रत्रयं जिनपतेरपसव्यभागे।
छत्रत्रयं (मङ्गलं) तदनु तस्य तु सव्यभागे
वादित्रजालज (ब) धिरे सति सर्वलोके॥

अन्तिम भाग—

ओं ह्रीं ह्रुं फट् केतुमहाग्रह अमुकस्य शिवं कुरु कुरु स्वाहा।

इत्थं सारसपर्ययाद्य महिता यूयं प्रसन्नास्तु नः
साङ्गास्ता विकला विमोहमुखतोयुष्मत्प्रसादादियम्।

सर्वज्ञाध्वरविघ्नमाघ्नत द्रुतं सूर्यादिसर्वग्रहान्
पूर्वाङ्गान् विधिपूर्त्तिपूर्णफलदां पूर्णाहुतिं वोऽर्पये ॥
ओं ह्रीं आदित्यादिनवग्रहदेवा यष्ट्रप्रभृतीनां शान्तिं कुरु स्वाहा—
पूर्णार्घ्यम् ॥

१४. ज्वरशान्तियन्त्रपूजा—इसमें ७ ताड़पत्र हैं और प्रति पत्र ५ पंक्तियाँ हैं। ज्वर को दूर करने के लिये शान्तिदायक यंत्र का विधान बताया गया है। प्रारम्भ में यंत्र को लिखने की विधि का वर्णन किया गया है, अनन्तर यन्त्र की पूजा है। भगवान् पार्श्वनाथ की पूजा, आरती और मन्त्रजाप का वर्णन है। Catalogue के सम्पादक ने इसके विषय का वर्णन करते हुए लिखा है कि "Deals with the drawing and sanctification of a Yantra (mysticdiagram) which is considered to have the power of curing one of severe fever and freeings one from danger of any kind.

अर्थात् इस यन्त्रपूजा के द्वारा सभी प्रकार के ज्वर दूर हो जाते हैं और आराधक को परम शान्ति मिलती है—

प्रारम्भिक भाग—

हंसावृताभिधानं मलवरषष्ठस्वरान्वितं कूडम् ।
बिन्दुयुतं स्वरपरिवृतमष्टदलाम्भोजमध्यगतम् ॥
तेतोऽहं सोममुधा हंस स्वाहेति दिग्दलस्य विलिखेत् ।
× × × ×
श्रीपार्श्वनाथस्सहितं करोति दाहज्वरे लोपितमन्त्रखण्डे ।
तदालिख्यापायत्कांस्यभाजने महादाहज्वरगस्तं तत्क्षणेनोपशाम्यम् ॥

अन्तिम भाग

बहिरर्चयेत् समन्तात् गन्धाक्षतकुसुमचरुकाद्यैः ।
क्रूरारिमारिशाकि[नी]न्युरगनवग्रहापिशाचचोरभयम् ॥
अपहरति तत्क्षणादिह तत्सलिलद्रवसमासिक्तः ॥

१५. जैनेन्द्रयज्ञविधि—इसमें १८ ताड़पत्र हैं और प्रतिपत्र ७ पंक्तियाँ हैं। जिनेन्द्र भगवान् की पूजाविधि का सविस्तार वर्णन हैं।

प्रारम्भिक भाग—

श्रीमज्जिनेन्द्रमभिवन्द्य जगत्त्रयेशं
स्याद्वादनायकमनन्तचतुष्टयार्हम् ।
श्रीमूलसंघसुदृशां सुकृतैकहेतुः
जैनेन्द्रयज्ञविधिरेष मयाभ्यधायि ॥

ओं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः असि आ उ सा। ओं नमोऽर्हते भगवते श्रीमते पवित्रतरजलेन मम हस्तशुद्धिं करोमि स्वाहा।

ओं ह्रां जलेन मम सर्वाङ्गशुद्धिं करोमि स्वाहा। ओं ह्रां जलेन मम पूजापात्रशुद्धिं करोमि स्वाहा। ओं ह्रां जलेन मम पूजाद्रव्यशुद्धिं करोमि स्वाहा।

अन्तिम भाग—

पानीयैर्जिनराजमज्जनकृतैर्गन्धैर्जिनेन्द्रार्चितैः
स्रग्भिः श्रीजिनपूजिताभिरर्हत्पादाश्चितैरक्षतैः।
हव्यैः श्रीजिनपादपीठमहितैर्दीपैस्तमश्छेदिभिः॥
धूपैर्गुग्गुलसंभवैर्बहुफलैः क्षेत्राधिपो मान्यते॥
प्राप्ताभ्यङ्गविधिर्जटामुकुटवान् नीलाञ्जनाभः सदा
हैमं पात्रमसिं गदां च डमरुं बिभ्रच्चतुर्भिः करैः।
नग्नो नागविभूषणस्त्रिणयनः श्रीजैनपूजार्चितः
सिन्दूराङ्कितमौलिरिष्टफलदः क्षेमं क्रियात् क्षेत्रपः॥
आशीर्वादः।

इस प्रकार अज्ञात कर्त्तावाले पूजाग्रन्थ २००-२५० के लगभग हैं। इन ग्रन्थों में से अधिकांश की प्रशस्तियाँ जैन-सिद्धान्त-भवन आरा एवं मद्रास लाइब्रेरी के सूचीपत्र में वर्तमान हैं। अन्वेषण करने पर खासा पूजा साहित्य तैयार किया जा सकता है। जैनाचार्यों ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा के द्वारा विभिन्न भाषाओं में सहस्रों ग्रन्थों की रचना की है। साहित्योद्धारकों को पूजा साहित्य की ओर भी ध्यान देना चाहिये।

# वेदविचार

[ ले०—श्रीयुत पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री, बनारस ]

वर्तमान में वेद यह आम चर्चा का विषय बना हुआ है। इधर उत्तर कालवर्ती ग्रंथों में वेद के दो भेद किये जाने लगे हैं। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में प्रायः छठी शताब्दी से लेकर जिन ग्रन्थों की रचना हुई उनमें ये भेद देखने को मिल जाते हैं। इसके पूर्व के मूल सिद्धान्त व कार्मिक ग्रन्थों में ये भेद नहीं पाये जाते हैं।

यह तो अब ऐतिहासिकों ने भी मान लिया है कि स्वयं भगवान् महावीर अचेलक रहे हैं। अतः उनकी परम्परा अचेलकों की परम्परा है। किन्तु ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि इस परम्परा में भगवान् महावीर के पूर्ववर्ती श्रमणों ने भी कभी वस्त्र स्वीकार नहीं किया रहा।

१—भगवान् महावीर के मुक्ति गमन काल से लेकर ५३० वर्ष के भीतर 'पउमचरिउ' की रचना हो ली थी। अर्थात् श्वेताम्बर परम्परा के वर्तमान आगम साहित्य का संकलन जिस समय हुआ था उसके बहुत काल पूर्व ही यह ग्रन्थ लिखा जा चुका था। यह चरित्र ग्रन्थ है। मुख्यतः इसमें जैन रामायण निबद्ध है पर संक्षेपतः अन्य महापुरुषों का चरित्र भी इसमें दिया गया है।

इसके स्वाध्याय से पता चलता है कि प्राचीनतम काल से ही जैन परम्परा में साधु वस्त्र नहीं स्वीकार करते रहे। प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ की दीक्षा का वर्णन करते हुए इसमें बतलाया है कि उन्होंने दीक्षा लेते समय भूषण, कटिसूत्र, कटक और वस्त्रों का त्याग करके जिनदीक्षा ली रही। यथा—

'तो मुयह भूसणाहं कडिसुत्तयकडयवत्थाहं।' ग० १३५, उ० ३।

इसमें अन्यत्र जहाँ भी अन्यान्य तर्थंकरों व श्रमणों की जिनदीक्षा का उल्लेख किया है वह भी इसी प्रकार से किया है।

२—मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई में कुषाणकालीन व गुप्तकालीन जितनी भी जैन मूर्त्तियां पाई गई हैं; उनमें से किसी पर भी वस्त्र का चिन्ह अंकित नहीं है किन्तु सब नग्न हैं। वहाँ के क्यूरेटर से हमने बातचीत की रही। उनका कहना है कि दसवीं शताब्दि के पूर्व की जैन मूर्त्तियों में वस्त्र का चिन्ह नहीं पाया गया है। हां दसवीं शताब्दि के बादकी ऐसी मूर्त्तियाँ अवश्य मिलती हैं जिनमें वस्त्र का चिन्ह अंकित किया जाने लगा था।

३—मोहन-जो-दड़ो की खुदाई में एक मूर्ति मिली है जो आदिनाथ की मूर्त्ति कही जाती है। भूगर्भशास्त्रियों का अनुमान है कि यह मूर्ति पाँच हजार वर्ष पूर्व की होनी चाहिये। यह नग्न है।

इन या ऐसे ही अन्य प्रमाणों से स्पष्ट है कि श्रमणों की परम्परा सदा से अचेलकों की ही परम्परा रही है। तथापि भगवान् महावीर के मुक्ति गमन के बाद जब से जैन साधुओं में वस्त्र प्रविष्ट हो गया तब से धार्मिक ग्रन्थों में भी इसके अनुकूल प्रतिकूल लिखा जाने लगा। और मूल वाक्यों के अर्थ में भी परिवर्तन किया जाने लगा। अधिकतर यह कार्य पांचवीं शताब्दि से हुआ प्रतीत होता है। श्वेताम्बर आगम साहित्य के संकलन का भी यही काल है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सम्प्रदायों के खड़े हो जाने पर उनको पुष्ट करने में वेद विषयक चर्चा ने बड़ी भारी सहायता की है। मेरा ख्याल है कि जब जैन साधुओं में वस्त्र आ गया तो वस्त्र का परिधान करना आगम विहित है यह बतलाना भी आवश्यक हो गया। पर आगम से इसकी पुष्टि कैसे की जाय यह उस समय एक प्रश्न था जिसका समाधान किये बिना सचेलकों की परम्परा का पनपना कठिन था। इसके लिये उन्होंने कार्मिक ग्रन्थों में आये हुए 'मनुष्यनी' शब्द का अथ स्त्रीवेदवाला मनुष्य न करके महिला अर्थ करना चालू किया और इस प्रकार स्त्रीमुक्ति की सिद्धि द्वारा सवस्त्रमुक्ति की सिद्धि तथा सवस्त्र दीक्षा का विधान किया जाने लगा। कार्मिक व सैद्धान्तिक ग्रन्थों में वेद के भेदों में द्रव्य-वेद और भाववेद इनका श्रीगणेश यहीं से चालू होता है। यही सबब है कि मूल ग्रन्थों में वेद के ये दो भेद नहीं मिलते। वहाँ तो वेद नोकषाय के उदय से जो जीव की अवस्था होती है उसे ही वेद बतलाया है और मनुष्य तथा मनुष्यनी इस विभाग का कारण भी वही रहा आया है। किन्तु रंग को प्रमुख स्थान मिलने से जैसे लेश्याओं में द्रव्य लेश्या ने स्थान पाया है। या जीव में सुख के बाह्य साधन सम्पत्ति को प्रमुखता मिलने से जैसे साता और असाता वेदनीय का अर्थ पुद्गलविपाकी प्रकृतियों के समान किया जाने लगा है। या जन्म से जातीय व वर्णव्यवस्था को प्रमुखता मिलने से जैसे उच्च गोत्र और नीच गोत्र का अर्थ इन सब व्यवस्थाओं के अनुसार किया जाने लगा है वैसे ही जबसे वस्त्रधारी साधुओं की परंपरा चालू हुई है तब से वेदप्रकरण में द्रव्यवेद भी आ बैठा है।

यद्यपि स्थिति ऐसी है तथापि प्रकृत में हमें दिगम्बर मूल ग्रन्थों के आधार से यह सिद्ध करना है कि मूल ग्रंथों में कहीं भी द्रव्यवेद विवक्षित नहीं रहा है।

खुद्दाबंध षट्खण्डागम का एक खण्ड है। उसमें यह प्रश्न उठाया गया है कि वेद-मार्गणाओं के अनुवाद से स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद कैसे होता है? इसका समाधान करते हुए वहीं बतलाया है कि ये तीनों वेद चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होते हैं। यथा—

'वेदाणुवादेण इत्थिवेदो पुरिसवेदो णवुंसयवेदो णाम कथं भवदि ।३५। चारित्त-मोहणीयस्स कम्मस्स उदएण ॥३६॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि मूल ग्रंथों में वेद मार्गणा में एक वेद का ही उल्लेख है जो कि स्पष्टतः भाववेद है। किन्तु जब उत्तरकालीन टीकाओं में द्रव्यवेद का उल्लेख किया जाने लगा तब उत्तरवर्ती लेखक वेद के दो भेद करने लगे। उदाहरणार्थ जीवकाण्ड में वेद मार्गणा के ही प्रकरण में वेद के दो भेद करके उनके पृथक् पृथक् लक्षण भी दिये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि मूल ग्रन्थों में द्रव्यवेद विवक्षित नहीं रहा है। इस पर शंकाकारों की ओर से निम्न शंकाएं की जाती हैं—

१—वेद मार्गणा में भाववेद की अपेक्षा सारी व्यवस्था मानने में तो आपत्ति नहीं है किन्तु गति मार्गणा में जो मनुष्य और मनुष्यनी यह विभाग किया गया है वह भाववेद की अपेक्षा से इसलिये नहीं बनता है कि वेदका उदय नौवें गुणस्थान तक होता है और मनुष्य मनुष्यनी व्यवहार चौदह गुणस्थान तक पाया जाता है। इसलिये मनुष्य मनुष्यनी व्यवहार का अन्य कारण होना चाहिये ? शंकाकार के मत से वह कारण द्रव्यवेद ही है।

२—जन्म से लेकर मरण तक वेद में परिवर्तन नहीं होता है ऐसा आगम ग्रन्थों में स्वीकार किया गया है। किन्तु यह बात तभी बन सकती है जब द्रव्यवेद और भाववेद का गठबन्धन मान लिया जाय। इससे ज्ञात होता है कि जहाँ जो भाववेद रहता है वहाँ द्रव्यवेद भी वही रहता है। द्रव्यवेद और भाववेद में वैषम्य नहीं बन सकता ?

३—वेद के तीन भेद हैं। यदि गति मार्गणा में इनकी अपेक्षा से भेद किया गया होता तो मनुष्य व मनुष्यनी ऐसे दो भेद न करके तीन भेद करना चाहिये था। अतः गति मार्गणा में दो ही भेद किये हैं इससे ज्ञात होता है कि गति मार्गणा में ये भेद शरीर रचना की अपेक्षा से किये गये हैं ?

ये तीन प्रश्न हैं जो मुख्यतः शंकाकारों की ओर से किये जाते हैं। अब क्रमशः इनका समाधान किया जाता है—

१—यह तो पहले ही बतला आये हैं कि षट्खण्डागम में वेदमार्गणा में भाववेद का ही उल्लेख किया गया है, द्रव्यवेद का नहीं। अतः गतिमार्गणा में मनुष्य मनुष्यनी यह विभाग भी भाववेद की अपेक्षा से ही मानना चाहिये। यह ठीक है कि वेदका उदय नौवें गुणस्थान तक होता है और मनुष्य मनुष्यनी व्यवहार चौदहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। किन्तु इससे पूर्वोक्त व्यवस्था के मानने में कोई आपत्ति नहीं आती है, क्योंकि गति-मार्गणा में संज्ञा की प्रधानता हो जाती है। उदाहरणार्थ प्रोफेसरी का पेशा करनेवाले व्यक्ति को प्रोफेसर तब से कहा जाता है जब से वह उस पेशा को आरम्भ करता है, किन्तु इसके बाद यदि उस पेशा को वह छोड़ भी देता है तो भी वह जीवन पर्यन्त प्रोफेसर कहलाता रहता है। वैसे ही प्रकृत में जानना चाहिये। माना कि नौवें गुणस्थान में वेदका समूलोच्छेद हो जाता है तथापि वेदके उदय से एक बार जो संज्ञा प्राप्त हो गई वह जीवन भर

बनी रहती है। यही सबब है कि वेद का उदय नौवें गुणस्थान तक रहते हुए भी मनुष्य व मनुष्यनी यह संज्ञा चौदहवें गुणस्थान तक नहीं बदलती है।

खुद्दाबन्ध में गतियों के पाँच और आठ भेद गिनाए हैं। पाँच में तो मनुष्य, नारकी देव, सिद्ध और तिर्यंच ऐसे भेद किये हैं किन्तु आठ भेदों में मनुष्यनी, मनुष्य, नारकी, पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिनी, देव, देवी, सिद्ध और तिर्यंच ये भेद किये हैं। ये भेद अल्प-बहुत्व प्रकरण में आये हैं। यथा—

'अप्पाबहुगाणुगमेण गदियाणुवादेण पंच गदीओ समासेण ।१। अट्ठगदीओ समासेण ।७।

आगे इनका अल्पबहुत्व बतलाते हुए मनुष्यनियों की संख्या से मनुष्यों की संख्या को असंख्यातगुणा बतलाया है। यथा—

'सव्वत्थोवा मणुस्सिणीओ ।८। मणुस्सा असंखेज्जगुणा ।९।

यह तो स्पष्ट है कि यहाँ मनुष्यों से ऐसे मनुष्य नहीं लिये गये हैं जिनमें मनुष्यनियों का समावेश सम्भव हो, क्योंकि मनुष्यनी और मनुष्य इन दो को स्वतंन्त्र गति मानकर यह संख्या बतलाई गई है। पर्याप्त मनुष्यों से मनुष्यनियाँ तिगुनी होती हैं यह तो सर्वविदित है। किन्तु यहाँ मनुष्यनियों से मनुष्य असंख्यात गुणे बतलाये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि मनुष्यों में पुरुषवेदी और नपुंसकवेदी इन दो वेदवालों का समावेश किया है और मनुष्य-नियों में स्त्रीवेदवालों का। यदि ऐसा न माना जाय तो उक्त विभागानुसार संख्या नहीं बन सकती है। खुलासा इस प्रकार है—

यह तो निश्चित है कि गर्भज मनुष्य और मनुष्यनी संख्यात ही होते हैं। इनमें लब्ध्यपर्याप्तकों की संख्या के मिला देने पर ही मनुष्यों की संख्या असंख्यात होती है। जीवकाण्ड की टीका में ऐसा बतलाया है कि ये लब्ध्यपर्याप्त मनुष्य स्त्रियों की योनि, कुच और कुक्षि में तथा मूत्र और पुरीष आदि में उत्पन्न होते हैं। यथा—

'ते संमूर्छिममनुष्यास्तु स्त्रीयोनितत्कक्षास्तनमूलान्तरालेषु चक्रवर्त्तिनः षट्टमहिषीं विना मूत्रपुरीषाद्यशुचिस्थानेषु चोत्पद्यन्ते।' जीवकाण्ड टीका गाथा ९३।

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि ये सम्मूर्च्छन मनुष्य अधिकतर द्रव्य स्त्रियों के शरीर में पाये जाते हैं, इसलिये इनकी गणना शंकाकार के मतानुसार मनुष्यनियों की संख्या में ही करनी चाहिये थी। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि द्रव्यपुरुष और द्रव्यस्त्री इन दोनों के शरीरों में इनका पाया जाना सम्भव है, इसलिये इनकी गणना केवल मनुष्यनियों की संख्या में ही नहीं की जा सकती है। सो इस पर यह कहना है कि केवल मनुष्यनियों की संख्या में इनकी गणना भले ही न की जाय। किन्तु केवल मनुष्यों की संख्या में भी तो ये नहीं गिनाये जाने चाहिये थे। दोनों हालतों में संख्या का उक्त क्रम नहीं बनता। अतः ज्ञात होता है कि मनुष्यनी शब्द से सिद्धान्त ग्रन्थों में द्रव्यस्त्री का ग्रहण न करके

स्त्रीवेद के उदयवाले मनुष्यों का ग्रहण किया है और मनुष्य शब्द से द्रव्यपुरुषों का ग्रहण किया है।

इस प्रकार षट्खण्डागम से ही यह ज्ञात होता है कि कार्मिक व सैद्धान्तिक ग्रन्थों में वेद प्रकरण में भाववेद ही लिया गया है और मनुष्य व मनुष्यनी यह विभाग भी उसी की अपेक्षा से किया गया है। यह तो पहली शंका का उत्तर हुआ दूसरी शंका का उत्तर इस प्रकार है—

२—यह ठीक है कि भाववेद जन्म से लेकर मरण तक एक ही होता है पर इसके लिए वही द्रव्यवेद मानना आवश्यक नहीं है, क्योंकि द्रव्यवेद के सम्बन्ध में ऐसा कोई नियम नहीं किया जा सकता है। लोक में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे लिंग परिवर्तन का पता लगता है। ऐसा ही एक लेख जैन सन्देश भाग ६ संख्या १० में 'क्या पुरुष भी बच्चे जनेंगे' शीर्षक से छपा है। इसमें बतलाया है कि पशु पक्षियों में लिंग परिवर्तन एक साधारण सी बात है। घोंघा को तो अनेक बार नर से मादा और मादा से नर होते हुए बतलाया गया है। यही बात मुर्गों में भी होती हुई कही गई है। इसी प्रकार मनुष्यों में भी लिंग परिवर्तन के उदाहरण बतलाते हैं। कुछ ऐसे भी उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जिनसे ज्ञात होता है कि पुरुषों के भी स्त्री चिन्ह पाये जाते हैं। स्तन होना और उनसे दूध झरना यह पुरुष चिन्ह नहीं। तथापि उसमें कई पुरुषों के इस चिन्ह का उल्लेख किया है।

जब हम इन सब बातों पर गम्भीरता से विचार करते हैं तो पता लगता है कि शास्त्रकारों ने एक पर्याय में एक ही वेद रहता है यह नियम भाववेद की अपेक्षा से ही किया है। इसका द्रव्यवेद के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। अतः यह प्रश्न ठीक नहीं कि एक पर्याय में एक ही वेद मानने से वह तभी बन सकता है जब उस पर्याय में वही द्रव्य वेद मान लिया जाय! मालूम होता है कि इस विषय में कार्मिकों का यह मत रहा है कि जीवन में द्रव्यवेद भलेही बदल जाय पर भाववेद नहीं बदलता।

३—पहले प्रश्न का समाधान करते समय खुद्दाबन्ध के उल्लेख द्वारा यह सिद्ध कर आये हैं कि मनुष्यों में पुरुषवेदी और नपुंसकवेदी दोनों का समावेश होता है। तथा मनुष्यनियों में केवल स्त्रीवेदियों का ही समावेश होता है इससे स्पष्ट है कि गति मार्गणामें ये दो भेद भी शरीर रचना की अपेक्षा से नहीं किये गये हैं। यहाँ प्रश्न यह हो सकता है कि नपुंसक वेदियों का समावेश मनुष्यों में ही क्यों किया गया है सो इसका यह समाधान है कि नपुंसकवेदी और पुरुषवेदी मनुष्य व्याकरण के नियमानुसार मनुष्य ही कहलायंगे। यही सबब है कि नपुंसकवेदियों का समावेश केवल मनुष्यों में ही किया है मनुष्यनियों में नहीं। इस प्रकार उक्त विवेचन से तीसरे प्रश्न का भी सयुक्तिक समाधान हो जाता है।

इस सब कथन का सार निम्न प्रकार है—

(१) षट्खण्डागम में वेद से एक भाववेद ही लिया है द्रव्यवेद नहीं ऐसा खुद्दाबन्ध से सिद्ध है।

(२) कार्मिक व सैद्धान्तिक ग्रन्थों में द्रव्यवेद का उल्लेख सम्प्रदाय भेद के बाद किया जाने लगा।

(३) कार्मिक ग्रन्थों में मनुष्य और मनुष्यनी यह विभाग शरीर रचना की अपेक्षा से नहीं किया जाकर वेद की प्रमुखता से ही किया गया है, यह बात भी खुद्दाबन्ध से ज्ञात होती है।

(४) एक पर्याय में एक ही वेद रहता है यह बात भाववेद की प्रमुखता से ही बनती है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्य के अवलोकन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि समाज में एक ऐसी पुस्तक की अत्यन्त आवश्यकता है जिसमें इस विषय का क्रमवार विस्तृत विचार किया गया हो। इसके बिना मूल इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश नहीं पड़ सकता है। इस विषय को लेकर जैसा वर्तमान काल में भ्रम फैला हुआ है वास्तव में देखा जाय तो इस भ्रम की परम्परा बहुत पुरानी है। फिर भी तत्काल हम विचारकों से अनुरोध करते हैं कि इस विषय के चिन्तन की जो प्रक्रिया हमने प्रस्तुत की है वह कर्म व्यवस्था के अनुकूल तो है ही, साथ ही सप्रमाण भी है अतः वे एतद्विषयक अध्ययन के समय इन बातों को अवश्य ध्यान में रखें।

# मुलतान के श्रावकों का आध्यात्म प्रेम

[ ले० श्रीयुत् अगरचन्द नाहटा ]

पंजाब प्रान्त में मुलतान नामक प्राचीन शहर है वहाँ दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय के श्रावक रहते हैं व दोनों सम्प्रदायों के पृथक् पृथक् मंदिर हैं। जैन समाज का नगर से कितना प्राचीन सम्बन्ध है इसकी जानकारी के लिये अभी तक निश्चित प्रमाण प्रकाश में नहीं आये। स्थानीय विद्वानों से इस सम्बन्ध में ज्ञातव्य प्रकाशित करने का अनुरोध है। इस नगर की प्राचीनता, जैनों का सम्बन्ध, यहाँ के जैनमंदिरों के लेख, यहाँ पर रचित एवं लिखित साहित्य, यहाँ के जैन ज्ञान भंडारों की हस्त लिखित प्रतियों की सूची, यहाँ के विशिष्ट जैन व्यक्ति आदि विषयों पर स्थानीय जैन भाई ही प्रकाश डाल सकते हैं।

श्वेताम्बर साहित्य से ज्ञात होता है कि १७ वीं शताब्दी से जैन मुनि समय समय पर यहाँ पधारते रहे हैं व उन्होंने कई ग्रन्थ भी यहाँ के श्रावकों के लिये बनाये हैं[1] जिनका कुछ परिचय मैंने अपने "सिन्ध प्रांत और खरतर गच्छ" शीर्षक निबंध में दिया है जो यथासंभव वर्णी-अभिनंदन-ग्रन्थ में प्रकाशित होगा। १८ वीं शताब्दी में श्वे० मुनियों के रचित साहित्य से यहाँ उस समय आध्यात्म ज्ञान का अच्छा प्रचार था, प्रमाणित होता है। उसी के सम्बन्ध में इस लेख में संक्षेप से प्रकाश डाला जा रहा है।

यहाँ के श्रावकों का आध्यात्म की ओर इतना अधिक प्रेम कब से एवं कैसे हुआ यह अन्वेषणीय है। मेरे नम्र मतानुसार १७ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दि० समाज में कविवर बनारसीदास जी ने जो आध्यात्मिक लहर लहराई थी, संभव है मुलतान तक वह पहुँच कर वहाँ के श्रावकों को प्रभावित करने में समर्थ हुई। आध्यात्मिक विषय का साहित्य श्वेताम्बर समाज की अपेक्षा दिगम्बर समाज में अधिक[2] है अतः श्वेताम्बर मुनियों ने श्रावकों

---

१ जिनमें से कुछ ग्रंथों का परिचय इस लेख में भी दिया जा रहा है। सं० १६६८ में कविवर "समयसुंदर" जी ने मृगावती चौपई यहीं बनाई जिसमें मुलतान के मंदिरादि के सम्बन्ध में निम्नोक्त उल्लेख है—

शहर बड़ा मुलताण विशेषा, कान सुण्यां अब देख्या वे।
सुमतिनाथ श्री पाया जिणंदा, मूलनायक सुखकंदा वे॥ मृ० ८२
खरतर संघ भला मुलतानी, नगर मुख्य दीवाणी वे।
सिंधु श्रावक सदा सोभागो, गुरु गच्छ केरा बहु रागो वे॥ मृ० ८३
जाण श्रावक ते जैसलमेरा, मरम लहई धर्म केरा वे।
करमचंद रीहड जणीता, साह बलई सुविदीता वे॥ मृ० ८४

२ इसका कारण मेरे नम्र मतानुसार यह है कि दि० मुनि बन आदि निर्जन स्थानों में अधिक रहते थे। वहाँ ध्यानादि द्वारा आत्मानुभव होना ज्यादा अनुकूल हो सकता है। परिग्रह एवं सांसारिक प्रपंचों की कमी ही आध्यात्मिक साहित्य की अधिकता का कारण है।

के अनुरोध से ज्ञानार्णव एवं परमात्मसार नामक दि० ग्रन्थों के अनुवाद रूप में (या आधार से) भी रचना की है। मुलतान में आकर वहाँ के आध्यात्मप्रेमी श्रावकों के संपर्क के कारण उन्हें भी इस रसानुभव से बड़ा संतोष हुआ और क्रमशः इस ओर आकर्षण बढ़ता गया जिसके उज्ज्वल उदाहरण श्रीमद् देवचंद्र जी महाराज हैं जिनकी रचनायें तात्त्विक विषयों में बहुत ही महत्वपूर्ण हैं।

कविवर बनारसीदास जी के आध्यात्म प्रेम ने जैन समाज में नव जीवन का संचार किया। सं० १६८० के लगभग तो इसका आगरे में विकाश हुआ पर थोड़े ही समय में उसका प्रचार बहुत व्यापक हो गया प्रतीत होता है। दि० समाज एवं आगरे की सीमा को उलंघन कर श्वेताम्बर समाज एवं दूरवर्ती स्थानों में इसका प्रभाव[1] नजर पड़ता है। मुलतान में संभवतः सं० १७०० के लगभग ही आध्यात्मिक लहर लहराने लगी और उसका सं० १८०० तक तो उत्तरोत्तर विकाश होता रहा ज्ञात होता है।

सिन्धप्रांत में श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अन्य गच्छों की अपेक्षा खरतर गच्छ का अधिक प्रभाव रहा है। अतः मुलतान में रचित सभी ग्रन्थ इसी गच्छ के मुनियों के रचित ही पाये जाते हैं। यहाँ उनमें से ४ मुनियों के ग्रन्थों का परिचय दिया जा रहा है जिनकी रचना आध्यात्मिक विषय पर यहाँ के श्रावकों के लिये हुई है।

१ **जिनसमुद्रसूरि**—आप खरतर गच्छ की बेगड़ शाखा के आचार्य थे। आपके रचित बड़े २ रास चौपइ एवं स्तवनादि फुटकर कृतियों की संख्या बहुत विशाल है पर उनका प्रचार जैसलमेर आदि की ओर ही अधिक रहने के कारण अभी तक जनसाहित्य जगत में उनका परिचय अधिक नहीं है। जैसलमेर की साहित्यिक यात्रा में हमें वहाँ आपके २५० के लगभग फुटकर स्तवनादि एवं १५।२० रास चौपइ आदि बड़ी कृतियों का नया पता चला है। बेगड़ पट्टावलि के अनुसार आप के रचित साहित्य का परिमाण १ लाख श्लोक से भी अधिक है। आप की परम्परा के विच्छेद हो जाने के कारण आप के कई ग्रन्थों का तो अब कहीं पता नहीं है। जैसलमेर भंडार में भी आप की कई रचनाओं की प्रतियाँ त्रुटित एवं अपूर्ण रूप में ही प्राप्त हैं। सं० १७११ में मुलतान के गणधरगोत्रीय शालिभद्र के पुत्र नेमिदास के आग्रह से रचित आलम करणी संवाद प्राप्त है जिसकी प्रति जैसलमेर के यति डुंगरसी के भंडार में सुरक्षित हैं।

२ **सुमतिरंग**—आप खरतरगच्छ की कीर्तिरत्नसूरि शाखा के चंद्रकीर्ति के शिष्य थे। सं० १७२२ के आश्विन शुक्ल १० को मुलतान[2] के श्रावक चाहडमल नवलखा वर्द्धमान

---

१ संभवतः इसीलिये उ० यशोविजय जी एवं मेघविजय जी को दि० समाज की मान्यताओं एवं बनारसीदास जी का खंडन करना आवश्यक हो गया था।

२ सं० १७२१ में आपने यहाँ हरकेशी चौपइ भी बनाई है।

आदि के आग्रह से श्वे० आध्यात्मिक (रूपक) ग्रंथ प्रबोधचिन्तामणि[1] का भाषा पद्यानुवाद ज्ञानकला चौपइ या मोहाविवेक रास के नाम से किया। इसी प्रकार सं० १७२४ में बन्नू में उपरोक्त चाहड़मल राखेचा, ऋषभदास, नवलखा, वर्द्धमान आदि के आग्रह से श्रीमद् हेमचंद्राचार्य के "योगशास्त्र" का भाषा में पद्यानुवाद किया।

प्रबोधचिन्तामणि चौपाइ में कवि ने शांतरस की महिमा एवं वहाँ के श्रावकादि का परिचय इस प्रकार दिया है—

"अंतर शुद्धि अजाणतां, रचई शास्त्र विपरीत।
मंदिर पड तो मूकीने, गिरिवर करिवा प्रीति।२।
नव रस सब जग कहतु है, अनिष्ट अष्ट करी अंध।
शांति रस सब ते सरस, भाख्यो श्री भगवंत ॥३॥
और रस अलखामया, करी कुमति विकार।
शांति रस सेवे जिवो, तिणकुं सुख श्रीकार ॥४॥

× × ×

सुमतिनाथ पसादुलि ए, श्री मुलताण मझारी।
संघ सकल मुलताण नो ए, समझदार सिरदार।
पारसनाथ परसाद की ए, दिन दिन जय जय कार।
चाहडमल भल चाह सुं ए राखेवा धर्मरीत।
चाहक ग्राहक नवलखो, वर्धमान बड चीत।

× × ×

राखे चाहड रूप सवा तू छैल छबीलो।
करमचंद तम हरण वांन, वरधमान वसीलो।
सहस किरण सारिखो, सुमति श्रीकरण सवाइ ॥
जो न त्रिभुवन माँहि जेठमल, सकल कहाई।
ताराचंद त्रिजग अणंद भय, ऋषभदास हुई करि रहो।
पृथवीराज आज शिवराज पिय, लीलापति पदवो लहो ॥१॥
जिनवाणी जगतारक जान, चाहड ऋषभदास वर्द्धमान।
समझदार श्रावक मुलतानो, करइ सदा मिल अकथ कहानी ॥४॥

(योगशास्त्र चौपइ)

३ धर्ममंदिर[2]—आप खरतरगच्छीय वाचक दयाकुशल के शिष्य थे। मुलतान के श्रावकों के लिये आपने सं० १७४० में दयादीपिका चौपइ सं० १७४१ मि० सु० १०

१ यह ग्रंथ जयशेखर सूरि रचित बड़ाही सुन्दर रूपक ग्रन्थ है।
२ आप के रचित अन्य ग्रंथों के सम्बन्ध में जै० ग्र० के० भ० २ देखना चाहिये।

को प्रबोधचिंतामणि मोहविवेक रास, एवं सं० १७४२ के कार्तिक शुक्ला ४ को परमात्म-प्रकाश ( दि० योगिन्द्रदेव रचित ) चौपइ ग्रन्थ बनाये। जिनमें यहाँ के श्रावकों का उल्लेख इस प्रकार है—

पारसनाथ बसाउले, श्रीमुलताण नगर मझारो रे।
श्रावक जिहां सुखीया वसै, आध्यातम ज्ञान विचारो रे॥
वर्द्धमान वारू सुखी, नवलखो भाग्योद जाणो रे।
भणसाली मीठू भला, धरम छोरी निज कुल भाणो रे॥
तास आदेश लही करी, जीव जतना तें अधिकारो रे।
चौपइ करी दयादीपिका, शिव ग्रन्थ नो लेइ विचारो रे॥
( दयादीपिका चौपइ )

× × ×

श्री मुलतान नगर में सोहे, पार्श्वनाथ मन मोहे जी।
तास पसाये चौपइ कीधी, मंगलमाला प्रसिद्धि जी॥
नवलखा वर्धमान विख्याता, नेमि धरम सांत ज्ञाता जी।
भणसाली मिट्ठू धर्मधारी, सूरिजसुत सुखकारी जी॥
अध्यातमशैली मनलाइ, सुखानंद सुखदाइ जी।
धर्म धुरंधर श्रावक संगे, वाधे ज्ञान सुरंगे जी॥
( मोहविवेक चौपइ )

× × ×

श्री मुलतान नगर भलो, जिहाँ श्रावक चतुर सुजाणो रे।
देव धरम गुरु रागिया, आदर दइ राय ने राणो रे॥
अध्यातमशैली वर्णा, नवलखा शाह वर्धमानो रे।
फणसाली भला लखिया, मिट्ठूमल बधतइ वानो रे।
साह कणोडी परगज, सुखानंद सत्य कही जै रे।
सुखीया दानी शुभमति, लखमी देई लाह लीजे रे।
नेमीदास धर्मदास जी, शांतिदास बंधव होइ रे।
मिट्ठू पुत्र सूरिज भणो, श्रावक शुभ भावुक जोइ रे।
ए श्रावक आदर करी, गांडावी चौपइ सारी रे।
अध्यात्म पंडित सुधी, ते थाप्पे यहाँ अधिकारी रे॥
( परमात्म प्रकाश चौपइ )

४ श्रीमद् देवचंद्र जी—द्रव्यानुयोग के आप महान् पंडित थे। आप की रचनाओं में जैनतत्त्वज्ञान एवं आध्यात्मिक विषय भरे पड़े हैं। अपने समय के आप अद्वितीय विद्वान्

थे। आपका साहित्य भी बहुत विशाल है जिसको श्रीमद् बुद्धिसागरसूरिजीने श्रीमद् देवचंद्र भ० १-२ में प्रकाशित किया है उसके अतिरिक्त हमारी खोज से कतिपय नवीन रचनाओं का भी पता चला है। आपका विशेष परिचय हमारे संपादित ऐतिहासिक जैनकाव्य संग्रह में देखना चाहिये।

आप की सर्व प्रथम रचना ध्यानदीपिका चौपई है जिसका निर्माण सं० १७६६ के वै० शु० १३ को मुलतान के भणसाली मिट्ठूमल के आग्रह से ज्ञानार्णव ग्रन्थ के आधार से किया था। आप ने प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रशस्ति में यहाँ के श्रावकों को "आध्यात्म श्रद्धानाधारी" मिट्ठूमल को "आतप सूरज ध्याता" बतलाया है यथा।

खरतर आचारिज गच्छचारी, जिणचन्द्र सूरि जयकारो जी।
तेसु आदेश लही सुखकारी, श्रीमुलतान मंझारी जी। ध्या० । १
अध्यात्म श्रद्धानाधारी, जिहां वसे नरनारी जी।
पर मिथ्या मत ना परिहारी, स्वपर विवेचन कारी रे॥
निज गुण चरचा तिहां थी करता, मन अनुभव में बरता जी।
स्याद्वाद् निज गुण अनुसरता, नित अधिको सुख धरता जी ॥१०॥
भलसाली मिट्ठूमल ज्ञाता, आतम सूरज ध्याता जी।
तसु आग्रह करी चउपई जोड़ी, सुणतां सुखनी कोड़ी जी॥ ध्या० ११॥

आध्यात्म ज्ञान के विशेष प्रेम के कारण ही ऐसे श्रावकों का संबोधन अन्य लोग आध्यात्ममती के नाम से करने लगे थे। यशोविजय जी एवं कविवर धर्मवर्द्धन ने आध्यात्ममत एवं आध्यात्ममती शब्दों का प्रयोग किया है।

# विजयनगर राज्य का जैन धर्म के प्रति सद्भाव

[ ले०—श्रीयुत बा० त्रिवेणी प्रसाद, बी. ए. ]

जैनधर्म बहुत प्राचीन है। संभव है कि वैदिक धर्म के साथ-साथ या उसके पहले इसका उदय हुआ हो। जैन तीर्थंकर ऋषभदेव का वर्णन श्रीमद्भागवत में आया है और उन्हें महात्मा कहा गया है। जैन शास्त्रों से पता चलता है कि जैनों के अनेक आचार्य पहले वैदिक धर्म के माननेवाले थे पर जैन धर्म से प्रभावित होकर जैन हो गये थे। हमारा तो खयाल है कि बहुत प्राचीन काल में वैदिक धर्म और जैन धर्म में इतना अधिक अन्तर नहीं था कि दोनों मतावलम्बियों में साम्प्रदायिक द्वेष पैदा हो, जैसा कि पीछे चलकर बौद्धधर्म के साथ हुआ। वास्तव में बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म वैदिक धर्म के निकट है। इसका एक विशेष प्रमाण यह है कि इस साम्प्रदायिक विद्वेष के जमाने में भी दोनों सम्प्रदायों के माननेवालों में वैवाहिक संबंध होता है। हमारे कहने का तात्पर्य्य यह है कि वैदिक और जैन दोनों मतावलम्बी बहुत प्राचीन काल से साथ-साथ रहे हैं, दोनों का व्यवहार, कतिपय उदाहरणों को छोड़कर, सौहार्द्र पूर्ण रहा है, और दोनों ने अपने को एक ही राष्ट्र का अंग समझा है। महाराज हर्षवर्द्धन की धार्मिक सहिष्णुता तो प्रसिद्ध ही है। अनेक इतिहासकारों का तो विश्वास है कि हर्षवर्द्धन की वैदिक धर्म के प्रति विशेष रुचि न थी! पर वास्तविक बात यह है कि हर्ष ने कभी साम्प्रदायिक पक्षपात नहीं किया। इसी प्रकार महाराज समुद्रगुप्त ने, वैदिक धर्म का उद्धारक कहलाकर भी, साम्प्रदायिक मनोवृत्ति नहीं अपनाई। मध्यकालीन भारत के हिन्दू राज्यों में विजयनगर का राज्य सब से प्रसिद्ध है। यह राज्य वैदिक धर्म का पोषक था। इसी राज्य के प्रसिद्ध मंत्री, सायणाचार्य ने वेदों पर भाष्य किया। यह एक आश्चय की बात है कि जबकि इसी समय के आस-पास के संसार के दूसरे राष्ट्र धर्म के नाम पर रक्तपात कर रहे थे, इस विजयनगर के प्रतापी राजे विभिन्न मतावलम्बियों के साथ सर्वथा पक्षपात रहित व्यवहार कर रहे थे। प्रस्तुत निबन्ध में इसी, अन्तिम विषय पर थोड़ा प्रकाश डाला जायगा।

विजयनगर साम्राज्य का जन्मकाल सन् १३४६ ईस्वी है। हम जानते हैं, यह समय भारतवर्ष के इतिहास में बहुत ही महत्वपूर्ण है। उत्तर भारत में मुसलमानों का राज्य कायम हो चुका था; वे अब दक्षिण-विजय के अपने प्रयत्नों को सफल करने में सचेष्ट थे। ऐसे समय में देश में एकता की बड़ी आवश्यकता थी। विजयनगर साम्राज्य के शासक स्वभावतः उदार थे, और राजनीतिक आवश्यकता वश नहीं, बल्कि स्वाभाविक सहिष्णुतावश उन्होंने अन्य सम्प्रदायों का भी उतनाही आदर किया, जितना कि वैदिक धर्म का। यह समय जैनधर्म की अवनति का था, किन्तु वैदिक सम्प्रदाय के प्रभावशाली राजाओं ने कभी उसकी ओर असहानुभुति का परिचय नहीं दिया। इस सम्बन्ध में अनेक प्रमाण मौजूद हैं। कईएक यहाँ पर दिये जाते हैं—

जब मुसलमानों का दक्षिणावर्त्त की ओर बढ़ना रुक गया और विजयनगर का साम्राज्य स्थापित हो गया (ई० सं० १३४६); इस नवीन साम्राज्य के राजाओं को राज्य की धार्मिक तथा सांस्कृतिक समस्याओं की ओर ध्यान देने का मौका मिला। साम्राज्य-संस्थापन के केवल १७ वर्षों के बाद, १३६३ में, एक धार्मिक विवाद उठ खड़ा हुआ। इस विवाद का निपटारा जिस न्याय के साथ हुआ, उससे यह छिपा नहीं रहा कि नवीन साम्राज्य के अन्तर्गत जैनमतावलम्बियों के अधिकार सर्वथा सुरक्षित हैं, और नये राजाओं के वैदिक धर्मावलम्बी होते हुए भी उनके धर्म में हस्तक्षेप का कोई भय नहीं। विजयनगर के राजा हरिहरराय का पुत्र, विरुपाक्ष ओडयार, मलेराज्य का सूबेदार था। यह विवाद उसीके सम्मुख उपस्थित हुआ। यह हेदुरनाड के अन्तर्गत ताडताल के प्राचीन पार्श्वनाथ बसदि की जमीन के सम्बन्ध में था। हेदुरनाद की वैदिक मतावलम्बी जनता का कहना था कि उक्त जमीन पारसनाथ बसदि की नहीं है। राज्य ने इस मामले की जाँच की आज्ञा दी, और मलेराज्य की राजधानी, आरंग में मामले की सुनवाई शुरु हुई। इसमें दोनों पक्ष के गण्यमान्य लोग बुलाये गये थे [ लेख में सबों का नाम दिया गया है ]। अन्त में सबों की सम्मति से प्राचीन प्रथा के अनुसार ही बसदि भी जमीन की सीमा निश्चित कर दी गई, तथा पार्श्वनाथ की अन्य जायदाद के सम्बन्ध में भी निश्चय कर दिया गया। सबों की सम्मति से इस मामले का फैसला पत्थर पर खुदवा दिया गया।"

[ मेडिएवल जैनिज्म—सालेतोरे, पृ० २८७-७७ ]

"उपर्युक्त घटना के केवल पाँच साल बाद बुक्काराय प्रथम के आगे एक बहुत ही महत्वपूर्ण समस्या उपस्थित हुई। १३६८ के एक शिलालेख से पता चलता है कि जैनों और वैष्णवों में एक विवाद उठ खड़ा हुआ। अनेक जिलों के जैनों ने बुक्काराय प्रथम के आगे इस बात की दरख्वास्त दी कि वैष्णव लोग जैनियों के साथ अन्याय करते हैं। राजा ने काफी जाँच-पड़ताल के बाद जैनियों और वैष्णवों में मेल करा दिया, इस बात का एलान किया कि जैन दर्शन और वैष्णव दर्शन में कोई अन्तर नहीं है, और साथ ही अपनी यह राजाज्ञा प्रकाशित की—

"यह जैन दर्शन पहले की ही भाँति पञ्च महाशब्द और कलश का अधिकारी है। यदि कोई वैष्णव किसी प्रकार भी जैनियों को क्षति पहुँचावे, तो वैष्णवों को उसे वैष्णव धर्म की क्षति समझनी चाहिए। वैष्णव लोग इस बात की ताकीद के लिए जगह-जगह 'शासन' कायम करें। जब तक सूर्य और चन्द्र का अस्तित्व है, तब तक वैष्णव लोग जैन दर्शन की रक्षा करेंगे। वैष्णव और जैन एक ही हैं, उन्हें अलग-अलग नहीं समझना चाहिए।"

राजाज्ञा में आगे बतलाया गया है कि जैनियों और वैष्णवों से कर लिया जाता है उससे बेलगोल के लिए रक्षकों की नियुक्ति की जाय, और यह नियुक्ति वैष्णवों के द्वारा हो,

तथा इससे जो द्रव्य बचे, उसमे जिनालयों की मरम्मत कराई जाय और उनपर चूना पोता जाय। "इस प्रकार वे प्रति वर्ष धन दान देने मे न चूकेंगे, और यश तथा सम्मान प्राप्त करेंगे। जो इस आज्ञा का उल्लंघन करेगा वह राजद्रोही, संघद्रोही और समुदाय-द्रोही होगा'।"

इसी शिलालेख के पीछे से जोड़े हुए अंश से प्रकट होता है कि कल्लेह के हर्विसेट्टि मे पुत्र बुसुवि सेट्टि ने बुक्काराय को प्रार्थनापत्र देकर तिरुमलें के तातय्य को बुलवाया और उक्त शासन का जीर्णोद्धार कराया था। जैन और वैष्णवों ने मिल कर बुसुविसेट्टि को 'संघनायक'[२] की पदवी प्रदान की थी तथा दोनों के अनुयायियों ने जैनधर्म की जय का नारा लगाया था।

इसी प्रकार हमें १६३८ ई० के एक शिलालेख से जैनों और वीर शैवों के विवाद का पता चलता है। यह एक महत्त्व की बात है कि यह शिलालेख जैनधर्म की प्रशंसा से शुरु होता है और अन्त होता है शिव की प्रशंसा से! विवाद यह था कि किसी वीर शैव ने विजयपार्श्व बसदि के एक खंभे पर शिवलिंग की स्थापना कर दी थी और विजयप्पा नामक एक धनी जैन सौदागर ने उस शिवलिंग को नष्ट कर दिया था। इस घटना से जैनियों में क्षोभ फैला और गण्यमान्य जैनियों ने वीर शैवमत के नेताओं के पास इस मामले के निपटारे के लिये प्रार्थना की। सभा में यह निश्चय हुआ कि जैन लोग पहले विभूति और बेलपत्र चढ़ाकर, [ अर्थात् शिवलिंग का सम्मान कर ] अपना आराधन-पूजन प्राचीन प्रथा के अनुसार करें। इस निर्णय के सम्बन्ध में राजाज्ञा भी मिल गई। वीर शैवों ने जैनियों के प्रति अपना सौहार्द प्रदर्शित करने के लिये इस निर्णय में यह भी जोड़ दिया—"जो कोई भी जैनधर्म का विरोध करेगा, वह शिव-द्रोही समझा जायगा, वह विभूति-रुद्राक्ष तथा काशी और रामेश्वर के पवित्र शिवलिंगों का द्रोही समझा जायगा।" इस लेख के अन्त में 'जिन-शासन की जय हो' यह वाक्य लिखा गया। इसी प्रकार इस राज्य के

---

१—शक वर्ष १२६० नेय कीलक-संवत्सरद भाद्रपद शु० १० बृ० स्वस्तिश्रीमन्महामाण्डलेश्वरं आरिराय विभाड भाषेगे तप्पुव रायर गण्ड श्री बीरबुक्करायनु पृथ्वीराज्यव माडुव कालदल्लि जैन-रिगू भक्तरिगू संवाज वादल्लि आनेयगोन्दि होस-पट्टण पेनुगुण्डे कल्लेहद-पट्टण बोलगाद समस्त-नाड भव्यजनङ्गलु आ-बुक्करायङ्गे भक्तरुमाडुव अन्यायङ्गलनू विन्नहं माडलागि कोबिल-तिरुमले-पे माल कोविल-तिरुनारायणपुरमुख्यवाद सकलाचार्य्यरू सकल-समयिगलू सकलसात्विकरू मोष्टिकरू तिरुपणि-तिरुविडितणीरवरुनालवत्तेन्टु-जनङ्गलु सावन्त-बोवक्कलु तिरिकुल जाम्बवकुल वोलगाद हदिनेण्टु-नाड श्रीवैष्णववरकैय्यलु महारायनु वैष्णवदर्शनक्के-ऊ जैनदर्शनक्के-ऊ भेद-विल्लवेन्दुरायनु वैष्णवर कैय्यल्लु जैनर कै-विडिदु कोट्टु यी-जैन-दर्शनक्के पूर्व्वमरियादे यलु पञ्चमहावाद्यङ्गलू कलशवु सलुवुदु जैनदर्शनक्के भक्तर देसे यन्द हानिवृद्धियादरू वैष्णव-हानि वृद्धि यागि ..... ...अ० शि० पृ० २६३-२६४

२—देखें—मैडियेवल जैनिज्म सालेतोर पृ० २८८-२८६ तथा अ० शि० पृ० २६४-२६५।

कई सेनापति और प्रधान अमात्य जैन धर्मानुयायी थे तथा राजाओं की रानियों के भी जैन धर्मानुयायी होने के प्रमाण मिलते हैं। श्रवण बेलगोल के निम्न शिलालेख से देवराय महाराय की रानी भीमादेवी का जैन होना प्रकट होता है, यह देवी जैनधर्म की परमाराधिका थी, इसने मङ्गायी बस्ति में शान्तिनाथ भगवान् की प्रतिष्ठा कराई थी। इसके गुरु पण्डिताचार्य थे—

श्रीमत्पण्डिताचार्य गुड्डि देवराय महारायर राणि भीमादेवी माडिसिद शान्तिनाथ स्वामि श्री ॥

हरिहर द्वितीय के सेनापति इरुगप कट्टर जैनधर्मानुयायी थे। इन्होंने बेल्गोल में एक बनकुञ्ज और एक तालाब का दान गोम्मटेश्वर के लिये किया था। इरुगप के माता पिता मङ्गप और जानकी जैन धर्म के परम श्रद्धालु थे, इसका समस्त कुटुम्ब जैनधर्म को पालता था। इसकी धार्मिक प्रशंसा में शिलालेख नं० ८२ में निम्न श्लोक कहे गये हैं—

आहारसम्पदभयार्पणमौषधं च
शास्त्रं च तस्य समजायतनित्यदानम्।
हिंसानृतान्यवनिताव्यसनं स चौर्य्यं
मूर्च्छा च देशवशतोऽस्य बभूव दूरे ॥
दानं चास्य सुपात्र एव करुणा दीनेषु दृष्टिर्जिने
भक्तिर्द्धर्म्मपथे जिनेन्द्रयशसामाकर्ण्ननेषु श्रुती।
जिह्वा तद्गुणकीर्त्तनेषु वपुषस्सौख्यं च तद्वन्दने
घ्राणं तच्चरणाब्दसौरभभरे सर्वं च तत्सेवने ॥

इरुगप रत्नत्रय का परमाराधक श्रावक था, इसने विजयनगर में कुन्थुनाथ भगवान् का जिनालय भी बनवाया था। तथा इसकी व्यवस्था के लिये कुछ भूमि भी दान में दी थी।

विजयनगर साम्राज्य के अमात्यों ने भी जैन मन्दिरों एवं जैन प्रतिमाओं का निर्माण कराया था। इस राज्य के उच्चपदस्थ कर्मचारियों में अधिकांश जैन धर्मावलम्बी थे, इसलिये राजाओं को भी जैनधर्म का विशेष खयाल रखना पड़ता था।

अतएव उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि विजयनगर के हिन्दू राजे साम्प्रदायिक पक्षपात रहित थे। जनता भी उदार थी। एक मत वाले दूसरे मतों का आदर करते थे, और मजहबी कट्टरता का नामोनिशान नहीं था। यदि साम्प्रदायिक समस्या को लेकर भारतीय इतिहास का अध्ययन किया जाय तो निश्चय ही हमें यह ज्ञान प्राप्त होगा कि जैन मत और वैदिक मत में कोई विशेष विरोध नहीं है। आज भी वैष्णव और जैन एक परिवार में अपने अपने मतों के अनुसार चलते हैं, और किसी प्रकार की असहिष्णुता नहीं दिखाई देती। पति अगर जैन है, तो पत्नी कट्टर वैष्णवी! और पति-पत्नी के प्रेम में कोई बाधा नहीं पहुँचती, बल्कि दोनों एक दूसरे के धर्म का आदर करते हैं!

# पुष्पाञ्जलि महाकाव्य

[ सं०—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण मूडबिद्री ]

मुझे इस महाकाव्य का सिर्फ एक पत्र स्थानीय जैन मठ के ग्रंथागार में वर्तमान ७९० नंबर वाले बण्डल में प्राप्त हुआ। महाकाव्य का यह उपलब्ध अंश सप्तम सर्ग का अंतिम [ पद्य सं० ४२ से ५४ तक ] एवं अष्टम सर्ग का प्रारम्भिक [ पद्य सं० १ से ६ तक ] भाग है। इसके सप्तम सर्ग के अंत में निम्न प्रकार की एक पुष्पिका लगी हुई है :—

"इति स्थावरश्रीकुपणतीर्थनिवासिजंगमतीर्थश्रीधरदेवपरममट्टारकशिष्यश्रीमाघनन्दिसैद्धान्तिचरणसरसीरुहचञ्चरीकेण···यकीर्तिना विरचिते पुष्पाञ्जलिमहाकाव्ये दृढपश्रेष्ठि प्रवर्तिते श्रीमदोदबलदेशाधिपतिकद्रुभूपालनामांकिते सप्तमसर्गः।'

पुष्पिका में प्रतिपादित 'कुपण-तीर्थ' तो इस समय हैदराबाद राज्य में वर्तमान आजकल का 'कोप्पल' है, जो कि एक जमाने में जैनों का भारत-विश्रुत एक प्रमुख महान् तीर्थ रहा। उस काल में इस क्षेत्र की महत्ता तथा पवित्रता श्रवणबेल्गोल से कम नहीं समझी जाती थी। 'भास्कर' की पिछली एक किरण में इस तीर्थ के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला भी गया है।

अब इस पुष्पाञ्जलि महाकाव्य के रचयिता के विषय में भी दो शब्द लिख देना परमावश्यक है। पर खेद की बात है कि काव्य का उपलब्ध पत्र खण्डित है; फलतः इसमें रचयिता के नाम में प्रायः एक या दो अक्षर गायब हैं। इसीलिये दूसरी प्रति की प्राप्ति तक निर्विवाद रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि इसके प्रणेता अमुक नामधारी कवि हैं। हाँ यह खण्डित नाम अविवादतः अयःकीर्ति नयकीर्ति आदि कोई कीर्त्यन्त नाम अवश्य है।

खैर, अब ग्रंथरचयिता के द्वारा सादर स्मरण किये गये गुरु माघनन्दी तथा प्रगुरु श्रीधरदेव को लीजिये। ये दोनों विद्वान आचार्य नागदेव मंत्री-द्वारा अपने श्रद्धेय गुरु श्री नयकीर्ति योगीन्द्र की निषद्या निर्माण कराये जाने का उल्लेख करनेवाले श्रवण बेल्गोल के ४२ [६६] वें नंबर वाले लेख में प्रतिपादित व्यक्ति ही मालूम होते हैं। इस लेख में इन दोनों की काफी प्रशंसा की गई है। इसमें माघनन्दी के शिष्यों में कीर्त्यन्त नाम वाले सिर्फ चन्द्रकीर्ति एक ही मिलते हैं। पर यह नाम काव्य के उपर्युक्त पुष्पिका में ठीक नहीं बैठता है। हाँ माघनन्दी के प्रशिष्य, गुणचन्द्र मुनि के शिष्य जिनके स्मृति रूप में श्रवणबेल्गोल का यह लेख अंकित है उन नयकीर्ति का नाम यहाँ पर ठीक बैठता है अवश्य। किन्तु ग्रंथरचयिता ने अपने को स्पष्ट रूप से माघनन्दी का शिष्य बतलाया है। इसलिये जब तक इसकी दूसरी पूर्ण तथा शुद्ध प्रति उपलब्ध नहीं होती है तब तक निर्विवाद रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि अमुक नाम वाले व्यक्ति ही इसके प्रणेता हैं। इसी प्रकार पुष्पिका में प्रतिपादित दृढप श्रेष्ठी दोहबल देश तथा तदधिपति कद्रुभूपाल के संबंध में भी विशेष खोज करने की आवश्यकता है। काव्य का उपलब्ध भाग इस प्रकार है—

.....नस्य सूनोः ॥

कुरु नृप ! विधिमाचैत्रान्तभद्रादिमासा-
त्प्रभृति धवलपक्षे सद्दिने पंचमाख्ये ॥४२॥

परमजिनपतीनां श्रीचतुर्विंशतीनाम् ।
प्रतिकृतिमभिषिच्य प्रार्च्य तोयादिभिस्ताम् ॥
पुनरपि रचयित्वा पुंजकं तण्डुलानाम् ।
जलधिनयनसंख्यं द्वादशं यक्षदेव्योः ॥४३॥

द्विगुणजलधिसंख्यैरर्चनैः प्रेज्यपुंजा-
नभिनवकुसुमोघैर्नामपूर्वं समर्च्य ।
परमसुखनिदानांस्तीर्थकर्तॄन्समस्ता-
न्यज नरप ! नवम्यां रत्नराश्यंजलीभिः ॥४४॥

नियमितकरणस्सन् यामयामेऽभिषेकम् ।
श्रवणरमणगीतैर्जागरत्वं कुरुष्व ॥
सुचरितयतिनाथांस्तीर्थकर्तॄन्प्रमाणान् ।
गदितविधिविशेषाद्भोजय प्रातरेन [व] ॥४५॥

युवतियुगलकाभ्यां भर्तृसंसर्गभाग्याम् [भाग्भ्याम्]
अशनवसनपुष्पं स्नानपूर्वं प्रदेहि ॥
मृदुकरतलदेशे बालयोर्मातुलुङ्गम् ।
कुरु पुनरपि राजन् ! वर्षवर्षं प्रतीत्थम् ॥४६॥

गतवति सति वर्षे वह्निसंख्ये नरेन्द्र !
प्रतिकृतिममलां त्वं श्रीचतुर्विंशतीनाम् ॥
परमजिननियुक्तं यक्षदेव्योश्च बिम्बम् ।
कनकरजतरत्नैः कारयोद्यापनाय ॥४७॥

भवगहनहुताशं पुस्तकं लेखय स्वम् ।
विशदलिपिविशिष्टं श्रीप्रसूनाक्षरैश्च ॥
उभयमपि प्रतिष्ठां त्वं प्रतिष्ठां विधाय ।
प्रदिश जिनगृहेभ्योऽर्चां मुनिभ्यश्च पुस्तम् ॥४८॥

तदनु विधिविशेषादेहि संघाय दानम् ।
भवगहनविनाशं भक्तिभारावनम्रः ॥
इति निगदितगत्योद्यापनं तद्विधेस्स्या-
त्पुनरपि तव च स्यान्मुक्तिकान्तानुरागः ॥४९॥

सुरभिकुसुमसंख्या यस्य नो पूर्यते चे-
दुदधिसदृशसंख्यं वर्षमस्मिन्स कुर्यात् ॥
दुरितकुजकुठारान् पञ्चकान्संप्रतिष्ठ्य ।
प्रहतमदनदर्पान् भोजयेदेकभिक्षान् ॥५०॥

यदि निगदितशक्तिः कस्यचिन्नास्ति पुंसः ।
कनकसदृशवर्णानक्षतान् पंचवर्षम् ॥
क्षिपतु परमभक्त्या सोऽपि तस्माद्गरिष्ठाम् ।
दिविजशिवसुखादीन् स्वादते निश्चयेन ॥५१

श्रुत्वा पूर्वभवान्तरं वनितया मित्रेण चेत्थं नृपः ।
श्रीमच्चारणपादपद्मयुगलं भक्त्या नमस्कृत्य सः ॥
कैलासाचलचूलिकाजिनगृहे कृत्वा सुपुष्पांजलिम् ।
धन्याधिष्ठितरत्नसंचयपुरं शीघ्रं गतो हर्षतः ॥५२॥

बिभ्राणो विजयांगनां निजभुजे लक्ष्मीं च वक्षस्थले ।
कुर्वाणः कुसुमांजलिं जिनगृहे रत्नप्रभाशोभिते ॥
शृण्वन् श्रीपरमागमं प्रतिदिनं तत्रास्त यावन्नृपः ।
गीतातोद्यविनोदनोदितवपुः काले कियन्मात्रके ॥५३॥

दंष्ट्रोपलक्षितमहाकडगस्य वंशे ।
जातः समौक्तिक इवामलकद्रुभूपः ॥
सद्वृत्तवान्सगुणवान् जिननाथवाण्याः [एया] ।
करें [कण्ठं] विभूष्य भुवि संस्थितवान्स जीयात् ॥५४॥

इति स्थावरश्रीकुपणतीर्थनिवासिजंगमतीर्थश्रीधरदेवपरममट्टारकशिष्यश्रीमाघनन्दिसैद्धान्ति-चरणसरसीरुहचञ्चरीकेणो···यकीर्तिना [?] विरचिते पुष्पाञ्जलिमहाकाव्ये दद्दपश्रेष्ठिप्रवर्तिते श्रीमद्धोद्दबलदेशाधिपतिकद्दभूपालनामांकिते सप्तमस्सर्गः

कुलिशेन महीपतिरेकदा लुलितरत्नविराजितमण्डपे ।
युवतिभिस्स्वसुतैस्सचिवैः परिवृतस्सुखमास्त गुणाम्बुधिः ॥१॥
सरसिजं सुरभीकृतदिङ्मुखं बहुदलं मकरन्दविमिश्रितम् ।
नृपतये वटुको गुणवान् ददौ नरपतिस्तदलोकत हर्षतः ॥२॥
मधुकरा'व्यसद्वतजीविता[न्]त्प्रतिदलेष्ववलोक्य महीपतिः ।
विषयिणां विषयान्मरणं ध्रुवं धिगिति तत्त्यजने कृतवा'मनः ॥३॥
पिबति मृष्टजलं गहनोद्भवं चरति चेक्षुसमं नवपल्लवम् ॥
मदगजः करिणीरतिलोलुपो व्यसनतस्समृतिं गतवान्भुवि ॥४॥
अशनलंपटधीश्शफरोमहान्ग्रसति लोहविलिप्तपरामिषम् ।
त्रुटिततुण्डगलस्सविलोडते क्षितितले विलयं मृ[द्रु]तमश्नुते ।
पतति शुष्कपलासदले भयात्सरति लंघति पर्वतमस्तकम् ।
श्रवणलोभवशादिह लुब्धकान्मरणमेति शरैर्हरि.....॥६॥

# श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में जैन महिलाओं के नाम।

[ले०—श्रीमती जी० के० जैन बी० ए०, साहित्यभूषण, आरण्य नगर]

श्रवणबेल्गोल के शिलालेख जैन इतिहास की अपूर्व निधि हैं। इनमें अनेक धार्मिक, सामाजिक, भौगोलिक आदि विभिन्न विषयिक महत्त्वपूर्ण बातों के उल्लेख के अतिरिक्त जैन मुनि, आर्यिका, कवि, संघ, गण, गच्छ आदि के नामों का उल्लेख है। अनेकों शिलालेखों में धर्म की उन्नति करने वाले नर-नारियों के संक्षिप्त परिचय भी हैं। प्राचीन काल में स्त्री और पुरुष समान रूप से धार्मिक कार्यों में भाग लेते थे। प्रकृति ने भी पुरुष को बहिर्जगत् का स्वामित्व और स्त्री को अन्तर्जगत् का स्वामित्व प्रदान किया है। पर स्मरण रखना चाहिये कि ये दोनों जगत् परस्पर में भिन्न दो नहीं, एक और अभिन्न हैं, गिरा अर्थवत् जलवीचिवत्। जीवन जान्हवी को अपने सुख एवं ऐश्वर्य के दोनों कूलों को अपनी मन्थर गति से अहर्निश मुखरित करते रहने के लिये कर्त्तव्य का यह विभाजन अन्तरंग और बहिरंग रूप में विभक्त भले ही दीख पड़े लेकिन दोनों हैं एक और अभिन्न। इसीलिये जहाँ हमें उत्सर्ग करने वाले पुरुष मिलते हैं, वहाँ नारियाँ भी। प्राचीन जैन महिलाओं ने जैनधर्म की उन्नति के लिये अनेक प्रयत्न किये हैं, इस लेख में श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में नामाङ्कित महिलाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा—

**अक्कब्बे** १२४ (३२७)—यह शम्भुदेव की पत्नी और चन्द्रमौलि की माता थी। चन्द्रमौलि त्रिभुवन मल्ल वीरबल्लालदेव के मंत्री थे। बल्लालदेव होय्सल वंशी प्रतापी राजा थे, इन्होंने लाड, गुर्जर, गौड़, पल्लव, चोल, ओडेयरस आदि नरेशों को जीत लिया था। चन्द्रमौलि के ऊपर माता के धार्मिक संस्कारों की अमिट छाप थी। इन्हीं संस्कारों के कारण वह शैव होकर भी जैन धर्म की ओर झुकता रहा था और अन्त में आचलदेवी के प्रभाव से जैनधर्म में दीक्षित हो गया था।

**अत्तिमब्बरसि या अत्तिमब्बे** ५९ (७३), १२४ (३२७), १४४—इस धर्मात्मा देवी के प्रभाव से गोदावरी नदी का प्रवाह रुक गयो था। जैनधर्म से इसे अत्यन्त प्रेम था। इसके पिता का नाम सेनापति मल्लप्प, पति का नाम नागदेव और पुत्र का नाम पदुवेल तैल था। अतिमब्बे का जैन नारियों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसने अपने व्यय से पोन्नकृत शान्ति पुराण की एक हजार प्रतियाँ तैयार कराकर वितरण कराई थीं। इसके सम्बन्ध में कहा गया है "Atemable wasan ideal devotee. She had 1000 Copies of Ponnas Śātipurana made at her own expense, and 1500 images of gold and jewels. We have seen that some women devotees have been compared to Attimable in their piety.

अनन्तमति गन्ति २८ (९८)—यह नविलूर संघ की थी, इसने द्वादश तपों का कटवप्र पर्वत पर यथाविधि पालन किया था। अन्त में समाधि सहित मरण करने से स्वर्ग के अनुपम सुखों को प्राप्त किया।

आचलदेवी १०७ (२५६), १२४ (३२७), ४२६ (३३१), ४९४—इन शिलालेखों में आचले, आचाम्बा और आचियक्का ये नामान्तर आचलदेवी के बतलाये हैं। शिलालेख नं० १२४ से सिद्ध होता है कि आचलदेवी नयकीर्त्ति के शिष्य बालचन्द्र की शिष्या थी। नयकीर्त्ति[१] सिद्धान्तदेव मूलसंघ, देशिय गण, पुस्तकगच्छ कुन्दकुन्दान्वय के गुणचन्द्र सिद्धान्त देव के शिष्य थे। इसी शिलालेख में आचलदेवी की वंशावली निम्न प्रकार दी गई है।

मालवाडिनाडु के श्रावक शिवेयनायक एक धर्मात्मा गृहस्थ थे, इनकी पत्नी का नाम चन्दब्बे था। इस दम्पत्ति के बम्मदेवहेग्गडे, बावेयनायक, कालब्बे, आचलदेवी और बाचब्बे ये पाँच सन्तानें हुईं। बाचब्बे का विवाह मासवाडि नरेश हेम्माडि सोवणनायकदेव के साथ हुआ। इन दम्पत्ति के बम्मेयनायक, मार, आचलदेवी, चेन्दब्बे और काम ये सन्तानें हुईं। इनमें से आचलदेवी का विवाह होय्सल नरेश वीरबल्लालदेव के मंत्री चन्द्रमौलि के साथ हुआ था और बम्मेयनायक का मल्लिसेट्टि और माचब्बे की पुत्री दोचब्बे के साथ हुआ।

प्रस्तुत आचलदेवी ही बालचन्द्र की शिष्या है। शिलालेख में इसका वर्णन करते हुए लिखा है—

हरिणी-लोचने पङ्कजानने घनश्रोणिस्तनाभोग-भा—
सुरे बिम्बाधरे कोकिलस्वने सुगन्ध-श्वासे चञ्चत्तनू
दरि-भृङ्गावलि-नीलकेशे-कलहंसीयानेयीकम्बुक-
न्धरेयप्पाचलदेवी-कन्तु-सतियं सौन्दर्यदिन्देलिपल्।

आचलदेवी जैन धर्मानुयायी थी, किन्तु उसका पति चन्द्रमौलि शैव धर्मानुयायी था। यद्यपि चन्द्रमौलि ने अपनी स्त्री को शैव धर्म में दीक्षित करने के लिये पर्याप्त प्रयत्न किया, लेकिन वह अपने ध्येय में सफल नहीं हो सका। बल्कि आचलदेवी ने अपने प्रभाव से उसे जैनधर्म की ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न किया था। तथा वह बहुत कुछ अंशों में सफल भी हुई थी। आचलदेवी ने कई जैन मन्दिर बनवाये थे।

अक्कनबस्ति के[१] लेख नं० १२४ (३२७) से प्रकट होता है कि इस बस्ती का निर्माण आचलदेवी ने कराया था। इस सुन्दर भवन में गर्भगृह, सुखनासि, नवरङ्ग और मुखमण्डप हैं। गर्भगृह में सप्तफणी पार्श्वनाथ की पाँच फुट ऊँची भव्य मूर्त्ति है। गर्भगृह के दरवाजे पर बड़ा अच्छा खुदाई का काम है। सुखनासि में तीन फुट उँची पञ्चफणी धरणेन्द्र और पद्मावती की मूर्त्तियाँ हैं। यहाँ के गुम्मज और छतों की कारीगरी देखने लायक है। मन्दिर

की गुम्मटों पर अनेक जैन मूर्त्तियाँ चित्रित हैं। आचलदेवी ने इस बस्ति का निर्माण कराके होय्सल नरेश बल्लालदेव से बम्मेयनहल्लि ग्राम प्राप्त कर उसे अपने गुरु नयकीर्त्ति सिद्धान्त-देव के शिष्य बालचन्द्र मुनि की पादपूजा कर उस मन्दिर के लिये दान कर दिया था। इस बस्ति का निर्माण काल सन् ११८१ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचलदेवी ने जैन धर्म की उन्नति के लिये पर्याप्त प्रयत्न किया।

आचलदेवी १२४ (३२७)—इस नाम की अन्य देवी हेम्माडिदेव की भार्या थी, इसकी माता का नाम चान्दब्बे और पिता का नाम शिवेयनायक था।

आचाम्बिके २५१ (२२१)—इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि "अरस आदित्यङ्गवाचाम्बिके गपोलविनिपुट्टिदरप्पम्पराजं हरिदेवं मन्त्रि-यूथाग्रणि गुणिबल"—अर्थात् आचाम्बिके के पति अरसादित्य थे। इन धर्मात्मा दम्पत्ति के पम्पराज, हरिदेव और बलदेव ये तीन पुत्र हुए। बलदेव की प्रशंसा इस लेख में बहुत की गई है, इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि कर्नाटक कुछ तिलक, माचिराज के पितृव्य, शत्रुओं के लिये प्रचण्ड शक्ति, जिनपद भक्त महा साहसी थे। समस्त मन्त्रियों के नाथ, शत्रुओं को वश करने वाले, परस्त्री त्यागी, सरस्वती, देवी के कण्ठहार विशुद्धकीर्त्ति, प्रसिद्ध और उदार मूर्त्ति, जिनेन्द्रपद सेवी बलदेव जयवान हो।

एचिकब्बे या एचब्बे १४४ (३८४)—यह गङ्गराज के बड़े भाई बम्मदेव के पुत्र एचिराज दण्डनायक की स्त्री थी। एचिकब्बे के गुरु शुभचन्द्रदेव थे। एचिराज दण्डनायक ने अपनी स्त्री की प्रेरणा से अनेक जिन मन्दिरों का निर्माण कराया था। अन्त में समाधि मरण पूर्वक प्राण त्याग किये। बोप्पदेव दण्डनायक ने अपने भाई की निषद्या निर्माण कराई तथा निर्माण कराई हुई बस्तियों के लिये शुभचन्द्रदेव के शिष्य माधवचन्द्रदेव को गङ्ग समुद्र की कुछ भूमि का दान किया।

एचिकब्बे ने तथा उसकी सास वागणब्बे ने ही जिननाथपुर में अरेगल बस्ति के पूर्व की ओर वाले लेख को अंकित करवाया था। यह अत्यन्त धर्मात्मा महिला थी।

एचलदेवी ९० (२४०), १२४ (३२७),—यह नारसिंह प्रथम की भार्या हैं, इसके पुत्र का नाम द्वितीय बल्लाल देव था। बल्लाल राजा ने ओडेय और कामदेव के राजाओं को पराजित किया तथा उच्चाङ्गि के किले को जीता था। महारानी एचलदेवी बड़ी धर्मात्मा थी, इनकी धार्मिक भावनाओं का प्रभाव पति और पुत्र दोनों पर था। इसीलिये द्वितीय बल्लाल-देव ने कई ग्राम दान किये थे।

इसी नाम की एक और रानी का शिलालेख नं० ९०, १२४, १३७, १३८, ४९०, ४९३, ४९४ में उल्लेख मिलता है। यह विनयादित्य के पुत्र एरेयङ्ग की भार्या थी। इसके बल्लाल,

विष्णुवर्धन और उदयादित्य ये तीन पुत्र हुए थे। इस देवी ने भी जैन धर्म की उन्नति के लिये जिनालय आदि का निर्माण कराया था।

कण्णब्बे ४६० (४८५)—इसका एक आर्यिका के रूप में उल्लेख किया गया है।

कनकश्री ११३ (२६८)—इस देवी ने कुन्दकुन्दान्वय, देशीय गण, पुस्तक गच्छ के आचार्य मानुचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, सोमचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, सिंहनन्दि भट्टारक, सोमश्री, गौरश्री आदि के साथ पञ्चकल्याण महोत्सव मनाया था।

कामलदेवी ४२ (६६), १३० (३३५)—इस देवी के पिता का नाम नागदेव और माता का चन्दब्बे था। नागदेव के पिता बम्मदेव और माता जोगब्बे थी। यह होय्सल वंशीय नरेश द्वितीय बल्लाल देव के मंत्री थे, इनके गुरु का नाम नयकीर्त्ति सिद्धान्त चक्रवर्ती था। इन्होंने नगर जिनालय का शक संवत् १११८ में निर्माण कराया था तथा कमठ पार्श्वदेव बस्ति के सम्मुख शिलाकुट्टम और रंगशाला भी बनवाई थी। जिनालय के प्रबन्ध के लिये कुछ भूमि भी दान में दी थी।

कामलदेवी के भाई का नाम मल्लिदेव था। कामलदेवी बड़ी धर्मश्रद्धालु थी, इसने जैनधर्म की उन्नति के प्रयत्न किये थे।

केलियदेवी या केलेयब्बरसि १२४ (३२७), १३७ (३४७), १३८ (३४९), ४९४—यह होय्सल नरेश विनयादित्य की भार्या थी। इस दम्पत्ति के ही प्रतापी पुत्र एरेयङ्ग हुए थे, जो चालुक्य नरेश की दक्षिण बाहु कहे गये हैं। राजा विनयादित्य ने केलियदेवी की प्रेरणा से कई तालाब और जैन मन्दिर बनवाये थे। मन्दिर बनवाने के लिये ईंटों के निमित्त जो भूमि खोदी गई थी, वहाँ तालाब बन गये; जिन पर्वतों से पत्थर निकाले गये थे, वे पृथ्वी के समतल हो गये, जिन रास्तों से चूने की गाड़ियाँ निकलीं थीं वे रास्ते गहरी घाटियाँ हो गये।

गङ्गार्या ३९५ (३००) इसे "पं० गोविन्दा नाथ गङ्गाई" शिलालेख में कहा गया है।

गुज्जब्बे ३६१ (२५२)—यह बम्मिसेट्टि की भार्या थी, इसने मोसले के बहुव्यवहारि बसवि-सेट्टि के प्रतिष्ठा कराये हुए जिनालय में चतुर्विंशति तीर्थङ्करों की अष्टविध पूजा के लिये प २ सेलदि वार्षिक चन्दा देने की प्रतिज्ञा की थी।

गुणमतियब्बे २१८ (११२) शिलालेख में इसे "श्री नविलूर सङ्घदा गुणमतिअब्बेगल्ल निसिधिगे।" उल्लेख किया गया है।

गौरश्रीकन्ति ११३ (२६८)—इसने कुन्दकुन्दान्वय, देशीय गण, पुस्तकगच्छ के अनेक आचार्यों के साथ फाल्गुन सुदी ८ हेबगन्दि (हेमलम्ब) सम्बत्सर में गोम्मट देव तीर्थ में पञ्चकल्याणक उत्सव मनाया था।

चन्दाम्बिके, चन्दब्बे या चन्दले ४२ (६६), ३० (३३५)—यह देवी भागदेव मंत्री की भार्या थी। इसे जैनधर्म से बड़ा प्रेम था, तथा इसने जैनधर्म के अभ्युत्थान के लिये भी पर्याप्त कार्य किये थे।

चागलदेवी १३८ (३४९)—यह नारसिंह प्रथम होयसल नरेश की रानी थी। शिलालेख में बताया गया है कि "चागल-देवी-लणो यादव-कुल-कमलविमलमार्त्तण्ड श्रीः।" इत्यादि शब्दों के द्वारा चागलदेवी के पति नारसिंह की प्रशंसा की गई है। नारसिंह ने कई बार चागलदेवी के साथ गोम्मटेश्वर की बन्दना की थी। जब दिग्विजय के समय नरेश बेल्गोल में आये थे, गोम्मटेश्वर की वन्दना कर हुल्ल द्वारा निर्मापित चतुर्विंशति जिनालय के दर्शन कर उन्होंने उस मन्दिर का नाम 'भाव्य चूड़ामणि' रक्खा था और उसके जीर्णोद्धार के लिये सवणेरु ग्राम दान में दिया था।

चन्दब्बे १२४ (३२७)—यह मासवाडिनादु के शिवेयनायक की भार्या थी। इसकी पाँच सन्तानें हुई थीं। इसे जैनधर्म से बड़ाभारी अनुराग था।

जक्कवब्बे या जक्कमब्बे ४३ (११७), ४४६ (३६७), ४४७ (३६८)—यह गंगराज के बड़े भाई बम्मदेव की स्त्री थी। यह[1] शुभचन्द्रदेव की शिष्या थी। सेनापति बोप्प इसी महिलारत्न का पुत्र था। इसने 'मोक्षतिलक' नामक व्रत करके एक प्रस्तर खण्ड में जिन मूर्त्ति खुदवाई थी और सन् ११२० में उसे श्रवणबेल्गोल में प्रतिष्ठित किया था। इसी वर्ष इस देवी ने एक सरोवर भी श्रवणबेल्गोल में खुदवाया था।

लेख नं० ४८९ (४००) से प्रकट होता है कि इस देवी ने श्रवणबेल्गोल से तीन मील की दूरी पर साणहेल्लि ग्राम में एक जैन मन्दिर का निर्माण कराया था।

इसी नाम[2] वाली एक और देवी हो गई है जो विख्यात जैन सेनापति पुणिसमय्य की भार्या थी। सन् १११७ के एक लेख से पता चलता है कि कृष्णराजपेटे तालुका के होसकोटे नामक स्थान में इसने एक बसदि का निर्माण कराया था। होसकोटे के लेख में यह भी बताया गया है कि इस देवी की तुलना सीता और रुक्मिणी से की जा सकती है।

जम्बुनायगिर आर्यिका ५ (१८)—इस देवी का शक संवत् ६२२ के शिलालेख में उल्लेख आया है कि इसने व्रतपाल कर समाधिमरण द्वारा प्राण त्याग किये थे।

---

१ श्रीमूलसङ्घद देशिय गणद पुस्तकगच्छद शुभचन्द्र सि०

१ द्धान्त-देवर गुड्डि दण्डनायक-गङ्गराजनातिगे दण्डनायक बोप्पदेवन तायि जक्कमब्बे मोक्षतिलकं नोन्तु नोम्बरे नयणद-देवर माडिसि प्रतिष्ठेय माडिदिदस मङ्गल महा श्री श्री।

—श्र० शि० पृ० ३६६

२ देखें—Medieval Jainism P. 163 तथा जैन-सिद्धान्त-भास्कर भाग ८ किरण १ पृ० ९४

जानकि[1] या जानकी ८२ (२५३) – यह मङ्गप सेट्टिकी भार्या थी। इसके बैचप और इरुगप ये पुत्र हुए थे। इरुगप संस्कृत का बड़ा अच्छा विद्वान् था। इसके ऊपर माता के धार्मिक जीवन की अमिट छाप पड़ी थी, इसलिये इसने विजय नगर में कुंथुजिनालय का निर्माण किया था, तथा बेलगोल में एक वनकुञ्ज और एक तालाब का दान गोम्मटेश्वर के हेतु किया था। इरुगप ने 'नानार्थ रत्नमाला' नामक कोष की रचना भी की थी। जानकी ने भी जैनधर्म की उन्नति के लिये अनेक प्रयत्न किये थे।

जोगव्वे या जोगम्बा ४४ (११८), १३० (३३५)—यह बम्मदेव की भार्या थी।

देमति[2], देमवति या देमियक्क ४६(१२६), ४९(१२९)—यह राजसम्मानित चामुण्ड नाम के वणिक् की भार्या थी। इसकी माता का नाम नगले, बहिन का नाम लक्कले और भाई का नाम बूचिराज था। इसके गुरु का नाम शुभचन्द्र सिद्धान्त देव था। शिलालेख नं० ४९ (१२९) से प्रकट होता है कि लक्कले या लक्ष्ममती ने बहन देमति के स्मरणार्थ इसे लिखवाया था। देवमति ने दान पुण्य कार्यों में जीवन व्यतीत कर शक सं० १०४२, फाल्गुन वदि ११ गुरुवार को संन्यास विधि से शरीर त्याग किया था। धार्मिक कार्यों के लिये इस देवी का नाम जैन महिलाओं में सदैव उल्लेख योग्य रहेगा। इसने प्रायः सभी तीर्थक्षेत्रों की यात्रा की थी। चार प्रकार के दान देना इसका नित्य का नियम था।

देवश्री कान्ति आर्यिका ११३—इस देवी ने सिंहनन्दि, सोमश्री, कनश्री आदि के साथ शक संवत् १०९९ में विन्ध्यागिरि पर्वत पर गोम्मटदेव का पञ्चकल्याणोत्सव मनाया था। इस आर्यिका ने कई तीर्थ क्षेत्रों की वन्दना की थी। यह कुन्दकुन्दान्वय, देशीगण और पुस्तक गच्छ की थी।

—क्रमशः

---

१ जानकीत्यभवदस्य गेहिनी चारुशीलगुणभूषणोज्वल जानकीव तनुवत्त-मध्यमा राघवस्य रमणीय-तेजसः॥

२ आहारं त्रिजगज्जनाय विभयं भीताय दिव्यौषधं—
व्याधि व्यापदुपेतदीनमुखिने श्रोत्रे च शास्त्रागमं।
एवं देवमतिस्सदैव ददती प्रप्रच्चये स्वायुषा—
महंद्देवमति विधाय विधिना दिव्या बधू प्रोदभू॥
आसीत्परच्चोभकरप्रतापाशेषावनीपालकृतादरस्य।
चामुण्डनाम्नो वणिजः प्रियास्त्री मुख्यासती या भुवि देमतीति॥
भूलोक-चैत्यालय-चैत्य-पूजा-व्यापार-कृत्यादरतो ऽवतीर्या।
स्वर्गात्सुरस्त्रीति विलोक्यमाना पुण्येन लावण्य गुणेनयात्र॥

—अ० शि० पृ० ७०

# श्री जैन-सिद्धान्त-भवन आरा का संक्षिप्त वार्षिक विवरण

[ १३-६-४५—४-६-४६ ]

श्रीजैन सिद्धान्त-भवन आरा ३५ वर्षों से जैन समाज की ही नहीं, अपितु साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति मात्र की सेवा करता चला आ रहा है; इस 'भवन' ने इस वर्ष भी कितनी ही साहित्यिक संस्थाओं एवं व्यक्तियों के प्रकाशन कार्य में साहाय्य प्रदान किया है। जैन संस्कृति के इतिहास निर्माण में इस भवन का विशेष हाथ है। अनेक अलभ्य ग्रन्थ रत्नों के संग्रह के साथ-साथ पुरातत्त्व विषयिक अन्य सामग्री का भी संग्रह किया जा रहा है।

इस वर्ष वीर नि० सं० २४७१ ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी से वीर नि० सं० २४७२ ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी तक भवन के सामान्य दर्शक रजिस्टर में ६३५१ व्यक्तियों ने हस्ताक्षर किये हैं। परन्तु हस्ताक्षर करने की कृपा न करने वाले व्यक्तियों की संख्या इससे कहीं अधिक होगी। विशिष्ट दर्शकों में निम्न लिखित महानुभावों के नाम विशेष उल्लेख योग्य हैं :—

श्रीमान् पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; श्रीमान् रामविचार पाण्डेय आयुर्वेद मार्त्तण्ड, एम० ए० उपसभापति युक्त प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन बलिया; श्रीमान् मास्टर दुलीचन्द जी जैन बी० एस-सी; बी० टी०, गंजबासौदा; श्रीमान् पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण मूड़बिद्री; श्रीमान् डा० बी० एल० आत्रेय प्रो० हिन्दू विश्वविद्यालय काशी; श्रीमान् डा० ए० एस० आलतेकर प्रधान प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति विभाग, हिन्दू-विश्वविद्यालय काशी; श्रीमान् काका कालेलकर, हिन्दुस्तानी प्रचारक वर्धा; श्रीमान् पं० कैलाश-चन्द्र जी शास्त्री, प्रधानाध्यापक स्याद्वाद महाविद्यालय काशी तथा मंत्री साहित्य विभाग दि० जैन संघ मथुरा; श्रीमान् पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार अधिष्ठाता वीर-सेवा-मन्दिर सरसावा; श्रीमान् पं० दरबारीलालजी न्यायाचार्य, रिसर्च स्कालर वीरसेवामन्दिर सरसावा; श्रीमान् पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री, मंत्री दि० जैन विद्वत्परिषद् व सम्पादक जयधवला बनारस। इन विद्वानों ने अपनी शुभ सम्मतियों के द्वारा पूर्ववत् भवन की सुव्यवस्था एवं संग्रह आदि की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

प्रकाशन—'भवन' के इस विभाग में जैन सिद्धान्त-भास्कर तथा जैन एन्टीक्वेरी का प्रकाशन पूर्ववत् चालू रहा, प्रसन्नता की बात है कि 'भास्कर' उत्तरोत्तर लोक प्रिय होता जा रहा है और बड़े-बड़े जैनेतर विद्वान् भी इसे बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं। कई अजैन विद्वानों ने भास्कर के सम्बन्ध में कहा है कि "भास्कर भवन की अमूल्य सम्पत्ति है इसके द्वारा जैन इतिहास और साहित्य का सुन्दर ढंग से निर्माण हो रहा है। भास्कर के साथ जैन

एन्टीकेरी का रहना तो सोने में सुगन्ध का काम करता है, इसे अविलम्ब त्रैमासिक कर देने की आवश्यकता है, जिससे जैन इतिहास का पर्याप्त मात्रा में निर्माण हो सके" आदि। इस वर्ष कागज नियन्त्रण के कारण अन्य प्रकाशन का कार्य नहीं हो सका।

**परिवर्त्तन**—इस वर्ष भवन के प्रकाशन से ४०-४५ ग्रन्थ परिवर्तन में लिये गये हैं। निम्नलिखित बहुमूल्य पत्र पत्रिकाएँ भी भास्कर के परिवर्तन में भवन को प्राप्त होती रही हैं:—

(1) Annals of the Bhandarkar oriental Research Institute, (2) The journal of the university of Bombay, (3) The Karnatak Historical Review, (4) The Adyar Library Bulletin, (5) The journal of Annamalai university, (6) The poona orientalist, (7) The journal of the united province Historical Society, (8) The Quarterly of Mythic Society, (9) The Punjab oriental research, A quarterly journal, (10) The journal of the royal Asiatic Society of Bengal (11) The journal of the royal Asiatic Society of Bombay (12) The Fergusson College Magazine (13) The journal of the Bihar and Orissa research Society, (14) The journal of the Benares Hindu university, (15) The Andhra university college Magazine and chronicle (16) The journal of the Sind Historical society, (17) The journal of Tanjore sarsvati library, (18) The Bombay theosophical Bulletin, (19) The jain gozette (20) The Indian literary review (21) The journal of the Ganganath Jha research Intitute Allahabad, (22) The Hindu stani review.

हिन्दी:—(१) नागरी प्रचारिणी पत्रिका (२) विश्वभारती (३) भारतीय विद्या (४) सम्मेलन पत्रिका (५) साहित्य सन्देश, (६) अनेकान्त, (७) विज्ञान (८) आजकल (९) किसोर (१०) वैद्य (११) धर्मदूत (१२) हिमालय (१३) वरदा (शोध-निबन्ध-क्रम) (१४) जिनवाणी (१५) संगम (१६) जैन महिलादर्श (१७) दिगम्बर जैन, (१८) जैन बोधक (१९) खण्डेलवाल जैन हितेच्छु—जयपुर (२०) खण्डेलवाल जैन हितेच्छु—इन्दौर (२१) वीर (२२) भारतीय समाचार (२३) जैन मित्र (२४) जैन सन्देश (२५) जैन गजट (२६) नवशक्ति।

गुजराती:—(१) जैन सत्यप्रकाश।

संस्कृत:—(१) मैसूर महाराज संस्कृत पाठशाला पत्रिका (२) सूर्योदय।

कन्नड़:—(१) जयकर्णाटक (२) शरण साहित्य (३) विवेकाभ्युदय।

तेलगु:—(१) आन्ध्र साहित्य-परिषत्पत्रिका। इस प्रकार भास्कर के परिवर्तन में कुल ५६ पत्रपत्रिकाएँ आती हैं। इनके अतिरिक्त (१) The Indian Historical quarterly (२) विशाल भारत (३) सरस्वती (४) साप्ताहिक संसार (५) दैनिक संसार (६) Search light. और (७) आर्यावर्त मूल्य देकर भवन में मंगाये गये हैं।

पाठक– भवन के सामान्य पाठक वे हैं जो भवन में ही बैठकर अभीष्ट ग्रन्थों का अवलोकन करते हैं। क्योंकि सर्व साधारण जनता को ग्रन्थ घर ले जाने के लिये नहीं मिलते। इसलिये प्रायः स्थानीय पाठकों को नियमानुसार भवन में ही आकर अध्ययन करना पड़ता है। इनके लिये हर तरह से सुविधाएँ भी दी जाती हैं। इनके अतिरिक्त अपवाद रूप में विशेष नियम से जिन जिन खास व्यक्तियों को घर ले जाने के लिये ग्रन्थ दिये गये हैं, उन ग्रन्थों की संख्या ५२२ है। इन ग्रन्थों से स्थानीय पाठकों के अतिरिक्त श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री, प्रधानाध्यापक श्री स्याद्वाद् महा विद्यालय काशी; श्रीमान् पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्त-शास्त्री जयधवला कार्यालय काशी; श्रीमान् पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य भारतीय ज्ञानपीठ काशी; श्रीमान् पं० परमानन्द जी शास्त्री सरसावा; श्रीमान् पं० दरबारीलाल जी, न्यायाचार्य, वीर-सेवा-मन्दिर सरसावा; श्रीमान् बा० ज्योतिप्रसाद जी एम० ए०, लखनऊ; श्रीमान् बाबू कामता प्रसाद जी डी० एल०, एम० आर० ए० एस० अलीगंज; श्रीमान् पं० रामप्रसाद जी शास्त्री, अध्यक्ष ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बई; श्रीमान् पं० के० भुजबली जी शास्त्री, विद्याभूषण मूड़बिद्री; श्रीमान् प्रो० शेषय्यंगार एम० ए० मद्रास यूनिवर्सिटी मद्रास; श्रीमान् रामसिंह जी तोमर एम०-ए० रिसर्चस्कालर शान्ति निकेतन (बंगाल); श्रीमान् पं० रामनाथ पाठक 'प्रणयी' व्याकरण-साहित्य-आयुर्वेदाचार्य डुमराँव; श्रीमान् जनार्दन मिश्र, वेदाचार्य, संस्कृत कालेज डुमराँव। इसके अतिरिक्त लश्कर की जैन साहित्यिक प्रदर्शनी को श्रीवृद्धि का बहुत कुछ श्रेय इस भवन को है। यहाँ से ६०-७० अलभ्य पुस्तकों के अतिरिक्त सचित्र जैन रामायण, प्राचीन लिपियों के चित्र, तिल-जौ चावल, सरसों आदि पर लिखे गये शब्द एवं अन्य प्राचीन साहित्यिक सामग्री गई थी।

संग्रह—पूर्ववत् इस वर्ष भी मुद्रित प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, मराठी, गुजराती, कन्नड़ एवं बंगला आदि विभिन्न भारतीय भाषाओं के ९० और अंग्रेजी के १२ इस प्रकार कुल १०२ ग्रन्थ संगृहीत हुए हैं। इन्हीं भाषाओं के पत्र-पत्रिकाओं की फाइलों की संख्या भी लगभग इतनी ही है।

भवन को इस वर्ष ग्रन्थ प्रदान करने वालों में दि० जैन स्त्री-समाज आरा; श्रीमान् बा० रूपसुन्दरदास आरा; श्रीमान् डा० देवराज एम० ए०, डी० फिल० राजेन्द्र कालेज छपरा, श्रीमान् बाबू बच्चूलालजी रईस आरा, श्रीमान् बाबू धनेन्द्रचन्द्रजी आरा; श्रीमान् बा० छोटेलाल जी रईस कलकत्ता एवं व्यवस्थापक आर्चिलोजिकल मैसोरु आदि के नाम उल्लेख योग्य है। श्रीमती ब्र० पं० चन्दाबाईजी की ओर से जैनमहिलादर्श को समालोचनार्थ प्राप्त ग्रन्थ भी भवन को मिले हैं।

इस वर्ष प्रतिलिपि का कार्य एक प्रकार से स्थगित-सा रहा है। इसके दो कारण हैं, पहला कारण तो कागज का अभाव और दूसरा संस्कृतज्ञ लेखकों की अप्राप्ति। असंस्कृतज्ञ लेखकों से शास्त्रों की प्रतिलिपि कराने से कोई लाभ नहीं होता है, बल्कि ग्रन्थों में अशुद्धियों की मात्रा और बढ़ जाती है। फिर भी श्रीमान् पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य भारतीय ज्ञानपीठ काशी के तत्त्वावधान में वहाँ के लेखकों से बेड़ाजातकवृत्ति, सिद्धिविनिश्चयटीका लिखवा कर मंगाये गये तथा आदिपुराण टिप्पण की प्रतिलिपि का कार्य अभी चालू है। श्रीमान् बा० बच्चूलालजी तथा बा० धनेन्द्रचन्दजी ने हस्तलिखित सचित्र यंत्र-मंत्र सहित भक्तामर भवन को प्रदान किये।

समालोचनार्थ प्राप्त ग्रन्थः—(१) षट्खण्डागम धवलाटीका समन्वित ७ वीं जिल्द, (२) न्याय दीपिका (प्रस्तावना टिप्पण-अनुवादादि सहिता), (३) अध्यात्म कमल मार्त्तण्ड, (४) जैन-सिद्धान्त-दर्पण (प्रथम और द्वितीय अंश), (५) सिद्धान्त-समीक्षा (तीन भाग) (६) हिन्दी व्याकरण-वार्ता, (७) ब्रह्मचर्य रहस्य, (८) वीरस्तुति, (9) Great men of Shahabad, (10) Facts and figurs about jain Swetamber terapanthi Diksha, (11) Gleanings from Somadeva suri's Yasastilaka champoo (vol I, part III and IV) 12 Literary sources for the study of svetamber jain Iconography.

पत्र व्यवहारः—भवन तथा भास्कर से सम्बन्ध रखने वाले सैकड़ों पत्रों के अतिरिक्त इतिहास, साहित्य, ज्योतिष, धार्मिक आदि विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले सैकड़ों पत्रों का समुचित उत्तर भवन से दिया गया है; जिनसे बाहर के पत्र प्रेषक मान्य विद्वानों को पर्याप्त सन्तोष हुआ है।

साहित्यिक एवं धार्मिक सभाएँ:—इस वर्ष भवन में 'सांस्कृतिक-जागरण-समिति' की पाक्षिक बैठक नियमित रूप से होती रही। आरा साहित्य-मण्डल और जिला साहित्य-सम्मेलन के भी दो-तीन अधिवेशन हुए हैं। इन साहित्यिक अधिवेशनों के साथ-साथ श्रुतपञ्चमी का अधिवेशन तथा महावीर जयन्ती का धार्मिक उत्सव भी भवन में ही मनाया गया। महीने में एकाध साहित्यिक या धार्मिक सभा भवन में होती ही रहती है।

प्रबन्धकारिणी की बैठकः—इस वर्ष भवन की प्रबन्ध कारिणी की बठक दो बार हुई। प्रथम बैठक में नये पदाधिकारियों और सदस्यों का चुनाव हुआ तथा बजट आदि पास किये गये। दूसरी बैठक में भवन के ग्रन्थों के सूचीपत्र के निर्माण, ग्रन्थ प्रकाशन एवं भास्कर को त्रैमासिक कर देने, आदि बातों के सम्बन्ध में विचार विनिमय किया गया।

जब से भवन स्थापित हुआ है, उसका व्यवस्थित ढंग से प्रामाणिक सभी विषयों की पुस्तकों का कोई सूचीपत्र प्रकाशित नहीं हुआ है, यह बात खटकने वाली थी, अतः इस कमी को दूर करने के लिये एक विषय क्रमानुसार अकारादिक्रम से सूचीपत्र तैयार किया जा रहा है। संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, गुजराती, हिन्दी एवं मराठी आदि विभिन्न भाषाओं की मुद्रित विभिन्न विषयों की पुस्तकों का सूचीपत्र एक-दो माह में तैयार हो जाने की आशा है। तैयार होते ही प्रकाशित कर समाज की सेवा में उपस्थित किया जायगा।

कार्यालय को व्यवस्थित करने के लिये फर्नीचर, प्रकाशन, शास्त्रों में लड़े बड़े और छोटे चित्र, जैन मूर्त्तियों के चित्र, सिक्के, भवन का फुटकर सामान आदि के स्टॉक रजिस्टर तैयार कराये गये हैं।

इस प्रकार भवन इस वर्ष व्यवस्थित ढंग से कार्य करता हुआ समाज की सेवा कर रहा है।

देवाश्रम आरा।
ता० २७-७-१९४६।

मंत्री:—
चक्रेश्वर कुमार जैन
बी० एस-सी०, बी० एल०, एम० एल० ए०

# THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XII JULY, 1946. No. I.

*Edited by*

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B., D. Phil.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
Babu Kamata Prasad Jain, M. R. A. S., D. L.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.
Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Sahityaratna.

*Published at* :
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR. INDIA.

*Annual Subscription*
Inland Rs. 3. Foreign 4s. 8d. Single Copy Rs. 1/8

# CONTENTS.


| | | Pages. |
|---|---|---|
| 1. | The Predecessar of Svami Virsena—Syt. Jyoti Prasad Jain, M.A., LL. B. ... .. ... ... | 1 |
| 2. | The Jain Canons and their place in the study of ancient Indian culture—Syt. Prof. J. C. Jain, M. A. Ph. D. ... | 7 |
| 3. | The Puranic and Historical refrences in the Apabhramsa Stanza of Hemchandra—Prof. Sibendranath Chosal M.A. | 16 |
| 4 | The Jain Chronology—Syt. Kamta Prasad Jain, D. L., M. R. A. S ... ... ... ... | 27 |
| 5. | Contemplation in Jain Sculpture—Prof. N. V. Sarma. M. A. ... ... ... ... ... | 30 |
| 6. | The Ancestors of Kharavela—Syt. Kamta Prasad Jain, D. L., M. R. A. S. ... ... ... ... | 33 |
| 7. | Some Epigraphic evidence bearing on the Svetambara and Digambara divisions—Syt. K. D. Bajpai, M. A. ... | 40 |
| 8. | Review—Jinaratna Kosa—Syt. Kamta Prasad Jain, D. L.... | 44 |

Om

# The JAINA ANTIQUARY

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "
[ अकलंकदेव ]

Vol. XII
No. I

ARRAH (INDIA)

July,
1946.

## THE PREDECESSORS OF SVAMI VIRSENA

*By*
[ Syt. Jyoti Prasad Jain, M. A., LL. B. ]

In the colophon at the end of the Dhavala, Svami Virsena tells us that his preceptor was Ajjanandi, the disciple of Chandrasena, and that one Elacharya was also his Guru[1]. The same information is repeated in the colophon of the Jayadhavala by Jinsena[2] who was the disciple of Virsena. The fact that Virsena had studied the whole of the Siddhant near Elacharya, is corroborated by Indranandi in his Shrutavatar[3]. It, therefore, appears that although Virsena was ordained by Ajjanandi (or Aryanandi) he was taught the Siddhanta by Elacharya.

Besides this meagre information, we know nothing about these Gurus of Svami Virsena. The learned editors of the Dhavala series, those of the Jaya Dhavala or any other scholar has not, to my knowledge, as yet fixed up their identity.

I have, after a careful and detailed discussion, arrived at the date of the completion of the Dhavala by Virsena, which is A. D. 780,

1. Dhavala Prasasti v. 1, 4, Shatkhandagama 1, 1, 1, Intr. p. 35-36.
2. Jayadhavala Prasasti, v. 26—"प्रशिष्य श्चन्द्रसेनस्य यः शिष्योऽप्यार्य नन्दिनाम् ।"
3. Shrutavatara v. 177-178.

and have also therefrom concluded that that sage must have been born in the twenties of the 8th century A. D. and must have died sometimes in the last decade of the same century[4]. Both his Gurus, Elacharya and Aryanandi, therefore, must belong to the first half of that century and the latter's Guru Chandrasena to the latter half of the 7th. century A. D.

In literature and tradition we have little to help us; but the numerous epigraphic records found in the South help us a great deal in this matter. A copper plate grant of the Ganga king Sivamara I mentions one Chandrasenacharya. This record relates that this monarch gave as a gift some specified lands in the village of Kellipusugūr ( Location given ) for the services of a Jain temple to Chandrasenacharya[5]. The grant itself is undated, but we know that King Sivamara I of the Ganga dynasty ruled from A. D. 670 to 713. That this ruler was himself a Jain is proved by this record as also by another in which he is also described as "a distinguished sailor able to reach the other side of Panini's Grammar[6]." In a record assigned to circa A. D. 900, found at the top of the Kund hill (Kundsita) situated to the west of Nimbagrāma in the village of Sandhikavāta, it is related that many Jain sages (Bahavo Munipungavah) attained Siddhi on that spot, and that here Chandrasena the disciple of Srisena obtained Mukti[7]. A number of Jain devotees, among whom are mentioned two women, are said to have performed Sallekhna at this place. This place also seems to have been called Kirukunda[8]. Dr. Saletore places the death of Chandrasena Muni in the same year as is assigned to the record i. e. A. D. 900[9]. It, however, does not seem likely. The inscription records past events, including the death of Chandrasena. Moreover it is not dated, but is believed to be as old as atleast A. D 900 or so. It might have belonged to earlier times. In any case, while informing us of the sanctity of the place, it might narrate, among others, the death by

4. See Anekant 7, 11-12, p. 207—my article on "The Date of Sri-Dhavala."
5. M. A. R. for 1925, p. 92.
6. M. A. R for 1927, p. 77.
7. E. C. IX Cp. 69 p. 145, text p. 323.
8. E. C. IX Ch. 70, dated eirca A. D. 900, p. 145.
9. Saletor—Mediaval Jainism, p 227 (n).

Sallekhana of such a celebrity as Chandrasenacharya. And this could very reasonably be our Chandrasena, the preceptor's preceptor of Virsena. If it is so, which seems quite probable, we incidentally get his Guru's name as well, which was Srisena. Besides, the Sena ending of the two names, Srisena and Chandrasena indicates their association with the Sena Sangha. And we know that Virsena and Jinsena belonged to the Panchstupanvaya of that very Sangha[10]. The contemporaneity of Chandrasena with king Sivamara I (670 —713 A. D.) places the former in the last quarter of the 7th. century A. D, whicn date is quite in keeping with the known date's of his disciple's disciple Virsena.

As regards Aryanandi, a kannad record in grantha characters mentions the setting up of an image of Devasena the pupil of Bhavānandi by a Jain sage called Arynandi also known as Ajjanandi, on Vallimalai near Tiruvallam in the Wandwash Taluka of the North Arcot district[11]. The record also tells us that this Devasena was the Guru of the Bana king[12]. In an undated Vattaluttu inscription commemorating the setting up of another image in Karungālappudi in the Madura Taluka, Ajjanandi is called "the glorious[13]." Ajjanandi is also mentioned in the records found at Añamali, Madura Taluka[14]. The Ajjanandi's mentioned in these records refer to one and the same person or to different persons, cannot be said with certainty. But there is nothing tangible to distinguish any one of them from others. About the first Ajjanandi who is also called Aryanandi, there are, however, two facts worth noting. Firstly, the place Vallimalai was a Jaina stronghold and a sacred place for the followers of this faith during the rule of the Gangas. King Rāchamalla Satyavakya I, the son of Ranvikrama had built a Jaina Basadi there in the 9th. century A.D.[15] Secondly, the pupil of Devasena referred to above, was a Bana king. The Banas seems

10. Colophons of the Dhavala and the Jayadhavala.
11. 8 of 1895, Med. Jainism p. 243.
12. 7 of 1895—Rangachari, Top. list, I, p. 120.
13. 562 of 1911.
14. 67-74of 1905.
15. 91 of 1889;6 of 1895.; and Med. Jainism p. 243.

to have come into existence in the 4th, 5th centuries A. D., but their early history is obseure. The important and famous kings of that line were Vikramaditya Bali-Indra and his successor Vikramaditya. The former one was a vassal of Chalukya Vijayaditya who reigned from A. D. 696 to 733[16]. Vijayaditya himself was a devotee of Jainism and no wonder his vassal also followed the same faith. Before the time of Vikrama-Bali-indra, the Banas were petty chiefs, occasionally crushed by the Gangas whenever they got unruly, and after the times of his successor they are heard no more. So there is every likelihood of Vikram-Bali-indra being the Bana king who is said to have been the disciple of Devasena. If this is so, the death of Devasena is to be placed in the first quarter of the 8th century A. D. Aryanandi's setting up of the image of Devasena clearly shows that the former was in some way associated with the latter on whose death he erected this memorial. It, at the same time, proves that Aryanandi survived Devasena and so might have lived upto A. D. 750 or so. His date too thus quite fits in with the dates of Virsena who was ordained as a Jaina saint by Aryanandi.

The identity of Elacharya is a bit difficult, as there have been several Jain sages of that name and in different times The first and most famous was Kunda Kundacharya. Some scholars doubt his being called as Elacharya, but in the present case we have nothing to do with a person belonging to such remote times. A second Elacharya was the disciple of Sridhardeva and is supposed to have lived in circa A. D. 910[17]. Rice, however, assigns him to circa 1100 A. D. The third Elacharya is mentioned in a record assigned by Rice to circa 1060 A. D. Nothing more is known about him except that his lay disciple was one Bindayya[18]. Rice seems to identify these two later Elacharyas. A lithic record of Cikka Hanasoge, assigned to A. D. 910, relates that in the reign of Ereya a Jain teacher Elacharya who subsisted on water for one month, died by Samadhi. And a citizen, Astopvāsa Kalnele Devar set up a Nisidhi in memory of this Guru. This citizen has been described,

16. Sircar—The Successors of the Satvahnas p. 247.
17. E. C., Yd. 28, p. 56; also Med. Jainism p. 240.
18. E. C. IV Ng. 67, p. 129.

therein, as a "moving tirtha"[19], Late Mr. Narsimhacharya identified the Elacharya of this record with the second Elacharya mentioned above as disciple of Sridhardeva[20]. But this identification is not a happy one. The Erya in whose domains the last Elacharya is said to have performed Sallekhna, appears to be the Ganga prince Eyerappa (Duggamar), the younger brother of king Sivamara II Saigotta, and a son of Sripurusha Muttarasa Prithvipongni II. This Sripurusha ascended the Ganga throne in A. D. 726 and seems to have ruled upto A. D. 776. Eyerappa Duggamara does not seem to have set on the throne, but he was a viceroy of Kovalnād under his father on whose death he tried to establish himself against his elder brother Sivamara II[21]. Eyerappa was a devout Jaina and gave grants to the Jain temples. He is famous for his Arjneya temple grant which is undated and is assigned to the biginning of the 9th century A. D.[22] It is quite probable that the Elacharya of the lithic record died when Eyerappa was a viceroy under his father. And thus the event seems to have taken place sometimes in the third quarter of the 8th century A D. Naturally, therefore he could not have been the same person as the disciple of Sridhardeva, who is placed by Narsimhacharya in the beginning of the 10th centuris and by Rice at the end of the 11th century A. D

An incomplete copper plate grant dated A. D. 807, hailing from Chāmrajnagar informs us that Ranavaloka Kamblaraja, when he was in his victorious camp at Talavanagar, granted at the request of his son Sanpargana the village of Vadanguppa (location specified) to the kind hearted, pious and learned Vardhamanguru the disciple of Elacharya guru who was the disciple of Kumarnandi Bhattaraka of Kunda kundachraya for the Srivijaya Basadi of Tolavanpur[23]. This record clearly shows that Elacharya the Guru of the recipient of a grant in A. D. 807 can easily us placed in about the middle of the 8th century A. D., and that quite probably he is our Elacharya. Moveover, he seems to be identical with the Elacharya of the lithic

19. M. A. R. for 1913-14, p. 38.
20. Saletore—Med. Jainism, p. 174 (n).
21. Ibid p. 25.; and Rice—My and coorg pp. 39, 55.
22. M. A. R. for 1932, pp. 240-41.
23. M. A. R. for 1921, p. 31.

record referred to above. The Elacharya belonging to the early centuries of the Christian era and those belonging to the 10th and 11th centuries A. D. need not be considered.

As we have already seen, Svami Virsena completed his Dhavala in A. D. 780. He must have taken about thirty years to compile that 72000 slokas size volume. Virsena himself as well as Indranandi inform us that after taking leave of Guru Elacharya, Virsena came to Vatgrama and there devoted himself to the compilation of works[24]. Hence he must have been associated with Elacharya sometimes prior to A. D. 750.

Thus we now know that Chandrasena the disciple of Srisena flourished in the latter half of the 7th century A D. His disciple Ajjanandi or Aryanandi belonged to the first half of the 8th century A. D., and was the Diksha Guru of Swami Virsena who took to orders sometimes in the second quarter of the 8th century A. D. Elacharya, the disciple of Acharya Kumarnandi of kundkundanvaya, and the Diksha Guru of Vardhamana Guru taught Siddhanta to Virsena and was associated with him towards the middle of the 8th century A. D. He, however, died by Sallekhna ( brave and pious mode of taking death.), after a month's fast sometimes in the third quarter of the same century of the Christian era.

24. Indranandi—Shrutavatara, verse 179

# THE JAIN CANONS AND THEIR PLACE IN THE STUDY OF ANCIENT INDIAN CULTURE.

*By*

[ Syt. Prof. J. C. Jain. M. A., Ph. D. ]

(*Continued from Vol. XI, No. II, p. 24*)

Lastly, a reference must be made to a large number of Inscriptions that have come to light. The Mathurā Inscriptions belonging to the reign of Kaniṣka and his successors reflect that the Jain community had attained a highly developed stage in the first century A. D. In these inscriptions are given the names of the Patriarchs belonging to different Gaṇas (schools), Kulas (families) and Sākhās (branches), already referred to, which mostly coincide with the list of the teachers and the schools founded by those teachers as given in the Kalpasūtra of Bhadrabāhu. Thus we see that the tradition preserved in the Jain Canons is pretty old and contains much historicity and hence as Buddhist books have been used as materials for the history of Buddhism, there is no reason why we should distrust the Jain Canons as an authentic source of the Jain Church.

*Modifications in the Jain Canons and their Authenticity.*

It may be noted that there are references which go to show that the present Jain Canon is not the original Canon and has undergone considerable modifications. We have noticed that different names are ascribed to one and the same Canon* and the number of the Canons varies considerably. The famous commentators Sīlānka, Malayagiri and Abhayadeva point out different versions (vācanābheda) in the Canons stating that a number of the Sūtras had become corrupt (galitāni) and a number of them were unintelligible (durlakṣa)**. Then the contents of the Canons do not correspond

*Archeelogical Survey Reports Vol. III, Plates XIII-XV; Buhler: The Indian Sect of the Jains, PP. 42-60; Vienna oriental Journal Vols. III and V, article by Buhler.

*For example Rāyapaseṇaiya is rendered into Sanskrit by the names Rājaprasnīya (Malayagiri), Rājaprasenakīya (Siddhasena Gani) & Rājaprasenajit (Municandra Sūri), Becharadas, Rāya. Intro P. 8 f. Jīvā bhigama 9-257 Tī. P. 449 a; Sūya Tī. II 2, 335 a; Rāya. Tī., P. 239; 259; 236 etc. Abhyadeva has recorded that it was most difficult for him to explain the texts faithfully since they were full of mistakes, traditions were lost & there were different versions (Nāyā dhammukahā Prasarti; Thāṇā. Tī. P. 499 a.)

to the table of contents referred to in the Thānāṅga, Samavāyāṅga or Nandi[1]. For instanve, according to the commentary of Nandi (Sū. 51, P. 230 a), the Nāyādhammakahā contained three crores and a half Padas (apparently an orcaggeration) where as at present it contains only twenty chapters. The commentator finding himself at a loss to explain this, simply refers to some old tradition on the matter. The same thing can be said regarding the number of padas of the Bhagavatī[2]. Then the Praśnavyākaraṇa does not correspond either to the title of the work or to the table of the contents as stated in the Thāṇāṅga (10, p, 484a) or the Nandi (Sū. 55, p. 233 af). Like the Praśnavyākaraṇa, the Antagaḍadasāo and a major part of Anuttarovavāiyadasāo also seem to have lost their texts since their present contents do not tally with those recorded in the Thāṇāṇga[3]. The names of the characters in the stories are quite different and the explanation given for this by Abhayadeva is the difference of Vācanā. The same incongruity is recorded regarding the Niryavali Srutaskandha ( n. ibid, p. 485 a.) Then, as we are told about the Jambudvīpa Prajñapti a portion of which is restored with the help of the Jīvābhigama and other Canons[4].

Besides these modifications and interpolations in the Āgamas, certain Canons or parts of the Canons have become totally obsolete and perhaps there is no possibility of their being restored now. We have already seen that the Drṣṭivāda was missing from the time of Sthūlabhadra. Then Mahāpariṇṇā, the seventh chapter of the Ācārāṅga does not exist any more; Dogiddhidasā and a portion of the remaining nine Dasās referred to in the Thāṇāṅga[5] are extinct now; the Pañcakappa is not available and some works of Kāliya and Ukkāliya Suya referred to above, are lost. Then some portion of Mahānisiha and some of the Painnās are missing. Besides, we do not see any supposed chronological order in the Canons pertaining to priority or posteriority of their compilation. On the other hand, the references of the Āgamas which are considered of late origin are

1, cf. the remark of Abhayadeva, Bhag. 1-P 10 Bechardas.
2. See Bechardas, Bhag, pt. IV, Introduction, P. 20.
3. 10, P. 482 a
4. Jambu. 2, P. 117 a.
5. 10, P. 484 a.

found in those which are said to belong to the early period. For instance, the Sūyagaḍaṅga refers to Uvavāiya[1] and the Bhagavatī to Pannavaṇā[2], Jīvābhigama[3], Jambuddīvapaṇṇatti[4], Rāyapaseṇijja[5], Uvavāiya[6], Nandi[7], and Anuogadāra[8].

Thus we notice that the present Canons have undergone considerable changes and hence certainly cannot be claimed on the original texts of the Canons. But at the same time it may be remarked that simply on this account the value of the canonical literature should not be minimised. As a matter of fact, the record of contradictory and inconsistent traditions and opinions in the Canons only prove that the Jains did not dare to make arbitrary changes in the texts but handed them down as faithfully as they could[9].

*The Date of the Canons.*

It should be borne in mind that the Jain Canons collectively do not belong to one particular period. In fact, each part of the Canon should be judged on its own merit after going through its contents carefully. We notice that certain Jain texts are ascribed to later authors by tradition itself. For instance, the Pannavaṇā is ascribed to Ajja Sāma (Ārya Syāma) who is said to have lived 376 or 386 years after Mahāvīra's death. The Dasāśrutaskandha, the Piṇḍavijjutti and the Oghavijjutti are ascribed to Bhadrabāhu (2nd century after Mahavira's death) the Dasaveyāliya to Sejjambhava (Śayyambhava), who is counted as the fourth head of the Church after Mahāvīra, and the Nandi to Devardhigani, the President of the Council of Valabhī in the tenth century after the death of Mahāvīra (i. e. 5th century A. D.)

To sum up, the canonical works of the Jains have not originated at one period; their traditions can be traced back to Mahāvīra and his disciples, or to say more correctly to the period of Candragupta when tradition places the council of Pāṭaliputra. But afterwards the sacred books of the Jains had to undergo considerable changes

1. II, 1 P. 275 a.
2. 6-2.
3. 10-7.
4. 9-1.
5. 8-2.
6. 9-6.
7. 8-2.
8. 5-4.
9. cf. Winternitz: op. cit. P. 434.

and as a result of which several works or portions of the works were added to them from time to time. Finally the Canons were written down by Devardhigaṇi in the fifth century A. D. which must be taken as the latest date of the Siddhānta.

### *The Exegetical Literature of Canons.*

The exegetical literature on the Canons is very extensive, and it is impossible to interpret the Canons without the support of the commentaries. On the whole the commentary literature seems to be quite trustworthy since the commentators have tried to preserve the old traditions and the stock of tales and legends current in those days. The commentators while illustrating the tenets of the Canon have referred to old compositions (pūrvaprabandha), ancient traditions (vṛddhasampradāya) and ancient explanations (vṛddhavyākhyā), which is an evidence to prove their authenticity. The commentators have frequently quoted the difference of opinions (kecit) and wherever they have failed to give satisfactory explanation of the texts they have taken recourse to the authority of the order tradition (samprdāyaga) or the words of an omniscient being (kevalin).

The exegetical literature which includes some of the important commentaries such as the Bṛhatkalpabhāṣya, and its Vṛtti, the Vyavahārabhāṣya and its Vivaraṇa, the Niśītha cūrṇi, the Āvaśyaka cūrṇi and its commentaries, and the commentaries on the Uttarādhyayana, is undoubtedly a mine of rich treasure in itself. In these works we come across various customs ond beliefs prevalent in those days in different parts of India, various feasts and festivals, religious sects, wadering ascetics, descriptions of famines, robbers and dacoits, the inaccessible roads, mountains and deserts, economic production, industry, trade-routes, dress, ornaments, food, and various other matters of importance which have nothing to do with religion as such but are of general interest to the man on the street. The commentary literature is also important from the point of view of voluminous and comprehensive literature that it contains. According to Dr. Winternitz, many a gem of the narrative art of ancient India has come down to us by way of the Jaina commentary and narrative

literature, which would otherwise have been consigned to oblivion[1]. The commentary literature like the canonical literature is also important from the point of view of the history of Indian languages. The canonical literature and its earliest commentaries are written in Prākrta language which is very useful in tracing the history of the modern India and Vernaculars.

The commentarial literature on the Canons consists of four parts, viz. (1) Nijjutti, (2) Bhāsa, (3) Cuṇṇi, and (4) Ṭīkā; including the Canons this literature is known as Pañcāṅgi or consisting of the five parts.

### *(1) Nijjutti.*

The oldest explanatory literature on the sacred texts is represented by Nijjuttis which consit of a very concise explanation in verses These Nijjuttis contain a number of historical or legendary tales elucidating Jain doctrines and moral or disciplinary rules given in the Jain Canons. The Nijjuttis were probably memorial verses which were learnt by heart by the teachers who used them in their oral interpretation of the Canon[2]. It is suggested that since the Nijjutti is absolutely unintelligible without the support of the commentary, there must have been an extensive commentary where all tales and legends referred to in Nijjuttis must have been told at length[3]. But unfortunately we have no means to ascertain the existence and nature of these hypothetical commentaries and how far they were epitomised in the present Niryuktis[4]. The Nijjuttis served the foundation for several other later commentaries.

The following are the ten Nijjuttis: (1) Āyārāṅga, (2) Sūyagadaṅiga, (3) Sūriyapannatti, (4) Uttarajjhayana, (5) Āvassaya, (6) Dasaveyāliya, (7) Dasāsuyakkhandha, (8) Kappa, (9) Vavahāra and (10) Isibhāsiya. The tradition is unanimous in attributing the

1. Op. cit, P. 487 Some of the stories of the cūrṇi literature are also found in the Jātakas, Kathāsaritsāgara, Sukasaptati, and Arabian Nights etc., see the author, introduction to his 'Atita kī kahāniyan' which is going to be published shortly.
2. Winternitz: op. cit. P. 483.
3. Jarl Charpentier op. cit. P. 50 f.
4. See Prof. A. M. Ghatage's article "The Daśavaikālika Niryukti", P. 629, I. H. Q., Vol. XI, 1935.

authorship of the Nijjuttis to Bhadrabāhu, who seems to be different from Bhadrabāhu, the last Srutakevalin and the author of the Cheda Sūtras, who died 170 years after Mahavira's death (i.e. 297 B. C.) When we study the contents of the Nijjuttis we notice that they refer to the later traditions. For instance the Uttarādhyayana Niryukti[1] refers to the story of the Bhadrabāhu's four disciples, and Sakaṭāla and Sthūlabhadra, and the Āvaśyaka Niryukti[2] to Bhadragupta, Ārya Siṁhagiri, Vajraswāmi, Tosaliputrācārya, Ārya Raksita, Phalgurakṣita and others, who were the successors of Bhadrabāhu. We also find a reference here to the origin of the Digambaras and seven schisms in the Jain church which undoubtedly represents the tradition much later than Bhadrabāhu, the author of the Cheda Sūtras[3].

*(2) Bhāsa.*

After Nijjutti comes Bhasa, the next chronological stage development in the commentarial literature on the Jain Canons. Like Nijjutti the Bhāsas were also written in Prakrt verses. However, it should be noted that a number of verses of Nijjutti and Bhāsa have so much intermingled with each other that it is difficult to distinguish from one another. This is corroborated by the statement in the commentary on the Bṛhatkalpa Bhāsya (Pīṭhikā, p. 2) by Malayagiri where he refers to the same confusion between the verses of the Niryukti and Bhāṣya. Similarly the verses of the Bhāṣya on the Dasaveyāliya have been uncorporated in its Niryutti (p. 278) and the same muddle is noticed regarding the verses of the Bhāṣya on the Āvassaya Sutta and its Nijjutti[4].

The following eleven Āgamas seem to have contained their Bhāsas :—(1) Āvassaya, (2) Dasaveyāliya, (3) Uttarajjhayaṇa; (4)

1. 91, 100.
2. 764-776; also cf. Uttarā. Nir. 96 f.
3. See Muni Punya Vijayaji's article in the Mahāvīra Jain Vidyālaya Rajata Mahotsava Smāraka Grantha, 1915-40; Jarl Charpentier's Introduction to the Uttarādhyayana Sūtra, P. 49 f. Bhadrabāhu. the author of the Nijjuttis placed in the fourth century A. D. (see Prof. Ghatage, The Dasavaikalika Niryukti, P. 631, I. H. Q., XI, Dec. 1935.)
4. See H. R. Kapadia, op. cit., P. 172; Prof. A. M. Ghatge's article on Sūtrakṛtaṇga Niryukti in I, H. Q, Vol XII, 1936, P. 270 ff.

Kappa, (5) Pañcakappa, (6) Vavahāra, (7) Nisiha, (8) Pañcamañgala suyakkhandha, (9) Jīyakappa, (10) The Nijjutti and (11) Piṇḍa Nijjutti[1]. The Bhāsas on the Bṛhatkalap Sūtra, Vyavahāra Sūtra and Niśītha Sūtra are very important as they contain most valuable information regarding various topics, particularly the life of monks and nuns and the society of these early days. The Bhāṣya on the Bṛhatkalpa Sūtra is written by Saṅghadāsagaṇi Kṣamāśramaṇa; most of the Bhāsas, however, are anonymous.

### (3) *Cuṇṇi.*

After Bhāsa comes cuṇṇi, an intermediate stage between the two periods, Bhāsa on one hand and the Tīkā on the other. Cuṇṇi is an intermixture of Prākṛt and Sanskrit languages pointing out an important era in the history of the Jain annals when slowly and slowly the Sanskrit was taking the place of Prākṛta in the history of the Jain literature.

The following Āgamas contain cuṇṇis:—(1) Āyāra, (2) Sūyagaḍa, (3) Viāhapannatti, (4) Jīvābhigama, (5) Jambuddīvapannatti, (6) Nisiha, (7) Mahānisiha, (8) Vavahāra, (9) Dasāsuyakkhandha, (10) Kappa, (11) Pañcakappa, (12) Oha Nijjutti, (13) Pañcamaṅgala Suyakkbandha, (14) Jīyakappa, (15) Uttarajjhayaṇa, (16) Āvassaya, (17) Dasaveyāliya, (18) Nandi, (19) Anuyogadāra and (20) Pakkhiya Sutta[2] out of these a very few cuṇṇis have seen the light of the day so far. Some of them have been edited by Muni Ānandasāgar from Rutlam. A cyclostyted copy of the Nisīha cuṇṇi is edited by Ācārya Vijaya Prema Sūrīsvara is available in same of the Bhandaras and Libraries. Most of the published cuṇṇis are ascribed to Jinadāsagaṇi Mahattara. Out of the available cuṇṇis the Āvassaya and Nisīha are most important as they contain most valuable treasure of information from the point of view of Jain history and culture. The Nisītha refers to Ārya Kālaka. a contemporary of King Sālivāhaṇa of Paiṭṭhāṇa, who proceeded to Persia (Pārasakūla) and returned with ninety-nine Kings (Sāha) to take revenge on King Gaddabhilla of Ujjenī, who is said to have abducted his sister and kept her in

1. H. R. Kapadia, op. cit., P. 187.
2. ibid., P. 190.

his harem. The Āvassaya cuṇṇi records a tradition of flood in Sāvatthi after thirteen years of which Mahāvīra attained kevalahood[1]. It also refers to important kings and princes contemporary of Mahāvīra and various other traditions. The cuṇṇis are also important from the point of view of Philological Studies.

### (4) *Ṭīkā.*

Haribhadra Sūri (705-775 A. D.) was a most distinguished and versatile writer, who is considered to have written for the first time the commentaries on the canons in Sanskṛit, retaining the Prākṛt narrative in their original form. He has written commentaries on Āvassaya, Dasaveyāliya, Nandi and Anuyoga. He is also said to have written a commentary on the Pannavaṇā which is lost now[2]. After Haribhadra comes Sīlārika Sūri, who lived about a century later and wrote commentaries on the first two Aṅgas with the help of Vāharagaṇi in about 862 or 872 A. D. He is also said to have written commentaries on the remaining ten Aṅgas which are lost now. Then we come to the commentaries Vānivetāla Sānti Sūri and Devardhigṇi, otherwise known as Nemicandra Sūri, in the eleventh century. They wrote separate but enhanstive commentaries on the Uttarajjhayaṇa retaining the narratives in Prākṛt in the manner of Haribhadra Sūri. The famous Abhayadeva Sūri also belongs to this period. He wrote commentaries on nine Aṅgas (III—XI) and the Ovāiya. His commentaries on the latter and the Nāyādhammakahā were revised by great Droṇācārya, the author of the commentary on the Ogha Niryukti. Then cames Maladhāri Hemacandra, a senior contemporary of ācārya Hemacandra and a pupil of Abhayadeva, who commented on Anuyogdvāra Sūtra. Malayagiri was another important author who wrote commentaries on six Upāṅgas (II—VII). His commentary on the Jambuddīvapannatti is said to have been lost, and that on the Pannavaṇā is based on Haribhadra's. He also wrote commentaries on Vyavehāra Bhāṣya, Piṇḍa Niryukti, Āvasyaka Sutra, Bṛhatkalpa Bhāṣya (incomplete), and Nandi. He completed his commentary on Nandi in

1. cf. the same tradition is also recorded in the Maccha Jātaka (I, No. 75).
2. The com. of Malayagiri on Pannavaṇā, P. 611.

1235 A. D.[1] Kṣemakīrti completed the commentary on the Bṛhatkalpa Bhāṣya in 1276 A. D. Then Vijayavimala wrote his commentaries on the Tandulaveyāliya and Gacchācāra in 1576 A. D; Sānticandra, a pupil of Hīravijaya on the Jambuddīva Pannatti in 1594 A. D., and Samayasundaragaṇi on the Kalpa Sūtra in the 17th century A. D. Besides a large number of Dīpikās, Vivṛtis, Tikās, and Avacūris were written on the canomical literature of the Jains. several of which do nót exist now. In the Tīkā literature, the commentaries on the Āvassaya, Uttarajjhayaṇa, Bṛhatkalpa, Bhāṣya, Vyavahāra Bhāṣya, Sthānāṇga, Bhagavati, Jambudvīpa Prajnapti and Kalpa Sūtra are most valuable since they have recorded various important traditions.

Thus the Jain canons and their commentaries which extend from the second century B. C. to the seventeenth century A. D., throw immense light on various aspects of ancient Indian culture and hence a thorough study is needed of this literature.

1. Winternity op. cit., P. 592.

*Note* :—Though the author has tried his best to explore the literature at his disposal yet his representation is based only on one side of the Jain literature. He has not touched at any stage the original Digambra Jain literature, which undoubtedly forms the most valuable and rich part of the treasure of Indian wisdom.

—*Editor.*

# THE PURĀṆIC AND HISTORICAL REFERENCES IN THE APABHRAṂŚA STANZAS OF HEMACANDRA.

*By*

[Prof. Sibendranath Ghosal, Bangabasi College Calcutta.]

(*Continued from Vol. XI, No. II, p. 40*)

Posibly, Vedavyāsa is refered to in the verse, who is the arranger of the Vedas, the Mahābhārata and the Purāṇas and is the founder of the Vedanta philosophy. Since it is impossible for a single man to be the compiler of both the Vedas and the Purāṇas there having elapsed at least several centuries between the conclusion of the former and the composition of the latter it is well assumed that there were different Vyāsas at different times and the attribution of the different works to one person has arisen from a desire to heighten their antiquity and authority. The name Vedavyāsa or Vyāsa occurs in almost all the ancient works, as the sage occupied a very exalted position in the heritage of Hindu religion and culture "The Purāṇas mention no less than twenty-eight Vyāsas, incarnations of Vishnu or Brahmā who desended to the earth in different ages to arrange and promulgate the Vedas." (Hindu Classical Dictionary P. 370 by John Dowson) But at present, due to want of authentic records it is impossible to trace any life-history of the different Vyāsas. Only we can know in fair details the account of the son of Parāsara and Satyavati, who is so gloriously extolled in the Mahābhārata and occupies a most distinct place into it. Vyāsa mentioned in the verse is surely a staunch upholder of Vedic rites, which lie at the very roof of the Brahmanic creed and culture and he preaches the doctrine of devotion, particularly to one's own mother, who is reverently considered to be the Goddess incarnate in all the works of Hindu moral sciences. In the Brahma-vaivarta Purāṇa occur the following lines:—which are also quoted in the Vācaspatya abhidhāna:—

व्यासः पुराण सूत्रञ्च पप्रच्छ वाल्मिकं यदा ।
मौनीभूतः स सस्मार त्वामेव जगदम्बिकाम् ॥
तदा चकार सिद्धान्तं त्वद्वरेण मुनीश्वरः ।
संप्राप निर्मल ज्ञानं भ्रमान्धध्वंसदीपकम् ॥

पुराणसूत्रं श्रुत्वा स व्यासः पञ्चकलोद्भवः ।
त्वां सिषेवे प्रदध्यौ च शतवर्षञ्च मुष्करे ।
तदा तत्तो वरं प्राप्य स कवीन्द्र बभूव ह ।
तदा वेद विभागञ्च पुराणञ्च चकार ह ॥ ब्र.व.पु. ४ अध्यायः ।

The last line is to be carefully observed in which it is emphasised that the one and the same Vyāsa arranged both the Vedas and the Purāṇas. Such a statement, as we, have already observed, can hardly be justified and we must reluctantly admit, that it is subject to a most adverse criticism.

In the two following verses, we find a reference to Yamaloka and Yamagṛhiṇi respectively :—

गङ्ग गमेप्पिणु जो मुअइ जो सिवतित्थ भमेप्पि ।
कीतदि तिदसावास-गड स जमलोअ जिणेप्पि ॥ 442.2.

("He who dies after having visited the Ganges and Benares (शिवतीर्थ) conquers यमलोक and enjoys pleasure in heaven.")

पइं मइं वेहिं वि रण्प-गदहिं को जयसिरि तक्केइ ।
के सहिं लेप्पिणु जमघरिणि भण सुहु के थक्केइ ॥ 390.3.

("When you and I both are on the battlefield, who (else) would expect to gain victory? Say, who would be at ease by pulling Yama's wife in her hair.") Such a belief that the virtuous conquer the yamaloka, where the wicked go to be punished by yama after death is purely Purāṇic in origin. In the Vishṇu Purāṇa we find, however, a very graphic description of the different hells, over which yama rules and, in which the wicked are hurled Yama, who is the Judge of the worldly activities of all the beings punishes the unfortunate sinners, but conducts the good, the virtuous to Swarga (Indra's heaven) an abode of eternal bliss. We find such descriptions copiously in the different Purāṇas and they were exaggerated with a view to dissuade people from committing any sin and to guide them to the right track of virtue and righteousness. It is interesting to note that though yama is a Vedic character, such a description of his judging the human conduct lacks in the Vedas. Yama is said there to be the God of the dead, with whom the spirits of the departed dwell. In a hymn it is said that yama "is the first of men that died, and the first that departed to the (celestial) world." Dr. Murr observes. "But yama is no where represented in the Rigveda

as having any thing to do with the punishment of the wicked.....the hymns of that Veda contains no prominent mention of any such penal retribution..... Yama is, still, to some extent an object of terror. He is represented as having two insatiable dogs with four eyes and wide nostrils, which guard the road to his abode, and which the departed are advised to hurry past with all possible speed. These dogs are said to wander about among men as his messengers, no doubt for the purpose of summoning them to their master, who is in another place identified with death, and is described as sending a bird as the herald of doom." D.S.T.V. 302.

We find in the second verse, a reference to यमगृहिणी i. e. 'wife of Yamas' needless to mention that such a conception of Yama's wife occurs only in the later Purāṇas. From the Purāṇas, indeed, we come to know the names of the wives of Yama, who are Hema-mālā, Susilā and Vyayā. In the Bhabiṣya Purāṇa we find a very interesting description of Yama's marriage with Vijayā who was successful in her endeavour of rescning her old mother from the terrible grip of the cruel toturer of the hell. No such conception of the wife of Yama, is found before the composition of the Purāṇas. In the Rig-Veda, we find, however, a mention of a twin-Sister of Yama, called Yami, who tried to exact her brother's love for the perpetuation of the human species. But the legend of Yamī is in no way connected with the conception of Yama's wives, who are so beautifully described in the later period. From the verse, quoted above, it is not possible to know anything about the wife of Yama. Only what we understand is that the speaker—a hero is too strong for his enemy, and the latter cannot save himself from the attack of his rival, as one incurring the displeasure of Yama by pulling the hair of his wife, cannot protect himself from Yama's retaliation.

The word Lakṣmī occurs in the verse following :—

पत्तहें तेत्तहें वारि घरि लच्छि विसट्टुल धाइ।
पिअ-पब्भट्ठव गोरडी मिच्चल कहिं व ठाइ॥ 433.1.

("Fortune is fickle and runs here, there, at the door, in the house, and does not stay firm at any place like the fair maid away from the lover.")

Here Lakṣmī may be interpreted also as the goddess of fortune, besides fortune itself. As she is noted for her fleetingness, she is rightly called cañcalā the fiekle", the goddess Lakṣmī does not occur in the Rig-Veda, but the word is used there in the sense of 'good fortune', 'prosperity' etc. Possibly in the later period when Lakṣmī was deified, the character of good fortune which is anything but permament was attributed to her...."in the Atharva Veda the idea has become personified in females both of lucky and unlucky character. The Taittiriya Saṃhita, as explained by the commentator makes Lakṣmī and Śrī to be two wives of the Āditya, and the Satapathaḥ Brāhman describes Śrī as issuing forth from Prajāpati." (H. D. dict. P. 176.) So the Atharva Veda and the others had nothing to do with Lakṣmī as the 'goddes of fortune' which was developed further later in the days of the Purāṇas. In the Rāmāyana however, Lakshmī is regarded as the "goddess of prosperity", along with 'love' and 'beauty.' When a man is growing rich it is said that Lakshmī has come to dwell with him; whilst those in adversity are spoken of as 'forsaken of Lakshmī' So this conception of Lakshmī, the origin of which can be traced in the Rāmāyana, grows popular as the Purāṇas grew in number and many legends became connected with her, who as the wife of Vishṇu, an important duity of Purānic pontheon, was worshipped with much devotion.

Kāma, 'the god of love' is mentioned in the verse following and we find there also a reference to the sharp arrow with which he pierces the hearts of the young.

जिवं जिवं वंकिम लोअणहं णिरु सामति सिक्खइ ।
तिवं तिवं वम्महु नियय-सर खर पत्थरि तिक्खेइ ॥ 344.1.

("The more does the darkish (young women = श्यामता) learn the crookedness (side-glances) of the eyes, the more does the God of love sharpen his arrows on sharp (hard) stone.")

He is called also मकरध्वज, which is referred to in the stanza.

चलेहिं चल-न्तेहिं लोअणेहिं जे तइं दिट्ठा बालि ।
तहिं मकरध्वय दडवडउ पडइ अपूरइ कालि ॥ 422.14.

["O young girl, those that are seen by you with your quick side glances, are attacked by the God of love even before they attain youth (अपूरइ कालि)"].

Rati, who is noted in the Purānas as a devoted consort of kāma and a co-worker in the enterprises of her husband, is mentioned below though here is no reference to any of her actions.

सोसी सेहरु खणु विणिम्मविदु
खणु कण्ठि पालवुं किदु रदिए ।
विहिदु खणु मुण्डमालिए जं णणएण
तं नमहु कुसुम-दाम-कीदणडु कामहो । 446.1.

["Bow down to the bow of cupid which is made of the wreath of flowers—the bow which he makes into a chaplet on his head for a moment, which he keeps hanging on the neck of रति for a moment and which he places on his head for a moment."]

In the Purāṇas thousands of legends have wound round the deity of Kāma, who gained popularity in a far later period, though he had his origin in the Rig-Veda. In the Rig-Veda Kāma is described as the first movement that arose in the one after it had come into life through the power of fervour or abstraction. In the Atharva-veda Kāma who is in no way connected with sexual love is celebrated as a great power superior to all other gods, and is invoked for deliverance from the enemies. There he is also identified with Agni; while at another place (in the same Veda) he is called to be the first desire and also the power that gratifies the desire It is curions to note that though in the Atharvaveda the conception of Kāma has nothing to do with sexual love, in one of the hymns of the Rig-Veda, this aspect is connected with the deity, as he is clearly mentioned there to be the 'god of sexual love.' Hence in the Rig-Veda occurs such an address: 'May kāma having well directed the arrow which is winged with pain, barbed with longing, and has desire for its shaft, pierce thee in heart. It is to be observed that bow and arrow, with which kāma is equipped, is referred to as early as in the days of the Rig-Veda. In the Purāṇas this aspect has been developed and when in the days of the Purāṇas there were anthropomorphic conceptions of the deities, kāma was described as a young boy decorated with flowers all over the body and bearing shafts and bow, which are also made of flowers. In the Bhāgavata, Vishṇu purāna and others, the stories of kāma are elaborately treated and in the "Vāmana Purāṇa" we find a lengthy, account of the effect of kāma's arrows.

As Purāṇas grew in number, the story of the birth of kāma began to vary. The conception of Rati, who is the wife of Kāma, and who assisted the latter in instilling the passion of love into the mind of great God 'Śiva' is purely Purānic in origin. Possibly this conception of the God of love is Pre-Indo-Aryan (in origin,) as Eros of the Greaks and the Cupid of the latins have a counterpart in Kāma of the Old-Indo Aryan.

The following verses refer to the eclipse of the moon by Rāhu.

मुह कवरि वन्ध तहें सोह धरहिं ।
जं मल्लजुज्झु ससि राहु करहिं ॥
तहें सहहि कुरल भमर-उल-तुलिअ ।
जं तिमिरडिम्भ खेल्लन्ति मिलिअ ॥ 382 1.

["Her face and the braid of her hair (rolling on it) bear respectively the beauty of the moon and the Rāhu engaged in fight, her curly locks of hair comparable to swarms of bees, look beautiful as if children of darkness, having gathered together are playing."]

जं दिट्ठउ सोमग्गहणु असइहिं हसिउ निसङ्कु ।
पिअ-मानुस विच्छोह-गरु गिल गिल राहु मयङ्कु ॥ 396.1.

["When the unchaste women saw the eclipse of the moon, they laughed fearlessly, (and said) O Rāhu, do do swallow the moon that agitates the beloved person."]

The account of Rāhu's swallowing of the moon seems to be Purānic in origin. In the different Purāṇas the story is amplified with beautiful descriptions, which bespeak the poetic insight and ingenuity of the versifiers. As in those days anthropomorphic description of the deities was a fastion with the poets and the propagators of religion, Rāhu has been described mostly as a black man riding on a lion. He is further said to have four arms and a tail hanging at the lower part of the body. He is a demon and is called Saṃhikaya, as he was the son of Sinṇhika and Bṛhaspati, according to the "Hindu mothology", but Vipracithi, according to the Hindu Classical Dictionary. However, both the fore-quoted verses presuppose a knowledge of the legend of the churning of the ocean and the severance of Rāhu'a head from the body by Vishṇu. In the Vishṇupurāna occurs "Eight black horses draw the dusky chariot of Rāhu, and once harnessed are attached to it for ever. On

the Parvans (nodes or lunar and soler eclipses) Rāhu directs his course from the Sun to the Moon, and back again from the Moon to the Sun." Though the legend of Rāhu's swallowing of the Moon is believed to be originating in the days of the Purānas, the word Rāhu and the phenomenon of eclipse were not something new at that time. In the days of the Brāhmanas and the Upanishads, they were probably well known. Even in the days of the Rig-Veda, Rāhu and the eclipse caused by his agency, were popular objects as in the third Aṣṭaka of the same Veda occurs the following verse, which betrays a knowledge of the both.

यत्वा सूर्य स्वर्भाणु स्तमसाविध्यन्नासुरः ।
अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्यऽन्ये अशक्नुवन् ॥

Here Rāhu is said to have eclipsed the Sun with darkness—a fact which may be possibly connected with the description of the dusky chariot of Rāhu, which we find in the Vihṇupurāna.

The great God 'Siva' occurs in the stanza :—

जेप्पि असेसु कसाय वतु देप्पिणु अभउ जयस्सु ।
लेवि महव्वय सिवु लहहिं झाएविणु तत्तस्सु ॥ 440.1.

["Having conquered the whole army of possions, having offered protection to the world, having taken the great vow and having meditated upon the highest truth, (the sages) attain bliss."]

His consort 'Gāuri' too is mentioned in the following :—

आयहिं जम्महिं अण्णि वि गोरि सु दिज्जहि कन्तु ।
गय मत्तहं चत्तङ्कु सहं जो अभिडइ हसन्तु ॥ 380.3.

("O Gouri, may you give me in this life and also in another such husband who smilingly meets maddened elephants unmanagable (even) by means of goods.")

The annotator of the Bom. edition translates Siva as 'bliss'. Such an interpretation of the deity, as one of its attributes, rather than the God himself. which developed in the Purāṇic period, points to the later origin of the approach. The history of the deity "Siva" is very much interesting and a brief description of the same is not irrelevant in the present context. The diety Siva is unknown in the Rig-Veda, where is mentioned only 'Rudra, the terrible', who sometimes stands for Agni and is called to be the father of the Maruts. From this Vedic Rudra the God Siva with later characters developed. The

deity Rudra, who occurs also in the Satarudriya hymns of the Yayurveda, is said there to 'auspicious' and not 'terrible which was emphasied in the earlier work. But curiously enough, the Atharva-veda which has an affinity with the later hymns of the Rigveda describes him to be fiercer, "dark, black, destroying terrible" and maintains in this aspect, a continuity with the latter.

In the Brāhmaṇas, Rudra, still occupies an important position and there occur legends which account for the peculiarity of his name. There it is distinctly mentioned that he had seven other names, which he received from his father Prajāpati and which are Bhava, Śarva, Pasupati, Ugradeva, Mahāndeva Iśana and Asani. In the upanisads in which attempts have been made to discern one unifying principle in the diversity of forces and one God immanent, but at the same time transcendental, Rudra is exalted to the position of the Brahma of the Vedānta. So we find there such expressions as "He is the only Rudra, he is Iśāna, he is divine, he is Maheswara, he is Mahādeva." In these upanishads indeed, Siva appears for the first time. So we find there such uttarances as "He is without beginning, middle or end; the one, the pervading, the spiritual and blessed, the wonderful, the consort of Umā, the supreme lord, the three-eyed. the blue-throated, the tranquil.....He is Brahmā, He is Śiva, he is Indra, he is undecaying, supreme self-resplandant; he is Vishṇu, he is breath, he is the spirit, the supreme lord !" So it is evident that the Vedic Rudra is transformed into Śiva in course of centuries and in the Purāṇic days the latter gains so much popularity, that the former is relegated to a very negligible position and finally to oblivion. In the very upanishads, it is observed that Śiva had two opposite characters, which are further developed in the Purāṇas. He is both the destroying principle and the agent of reproduction, furious and transquil, Mahākāla and Śiva. As inordinate emphasis is laid on tranquillity, the latter aspect of his character which leads to a transcendental bliss, and which the great God is believed to have enjoyed, Śiva is not restricted to the deity alone, but is used to signify the super mundane serenity of mind, which is attainable only by the remunciation of worldly contacts. The poet of the Apabhraṃśa verse has used the word in this sense

and followed the tradition which was coming down from a very ancient time. Gouri. who is described to be the consort of Śiva is his female energy i. e. Śakti. Like Śiva, she too, had two opposite characters, one mild and the other fierce. The word Gouri refers to her mild aspect—but she is worshipped more under the opposite character, as she the very energy incarnate, appealed to the minds of her devotees. The goddess is Purāṇic in origin and it is difficult to find out any counterpart of her, in the Vedas or the Brāhmaṇas.

In the verse following, Brahman is mentioned though we find here nothing stated about him.

बम्भ ते विरला के वि नर जे सव्वङ्ग-छइल्ल ।
जे वङ्का ते वञ्चयर जे उज्जुअ ते वइल्ल ॥ 413.1.

("Oh Brahmin (misprint for Brahman) rare are those persons who are good or clever in all respects. Those who are crooked are great deceivers those (the?) that are straight-forward are bulls (dull.)")

As Brahman may stand both for Brahma, the personal God who developed in the Purāṇic period and the all-pervading eternal spirit of the Vedantas it is very difficult to ascertain as to who is intended here by the poet. The God Brahma, who gained supremacy in the Purāṇas, is not even mentioned either in the Vedas or the Brāhmaṇas. In the Śatapathaḥ Brāhmaṇa Brahma (menter) is used, but the God is invested with powers, specially the act of reproduction, which is said to be a function of the made counterpart of the deity. In the later period, i.e. in the days of the Purāṇas, Brahma appears as one of the most important deities with limited spheres of action but Brahma becomes on abtractions, a spirit, nay a principle that unifies the divergent phenomana of the universe.

Prajāpati, is refered to in the stanza that runs :—

जइ सो घडदि प्रयावदी के केत्थु वि लेप्पिणु सिक्खु ।
जेत्थु वि तेत्थु वि येत्थु जगि भण तो तहि सारिक्खु ॥ 404.2.

("If the coreator fashions persons after having learnt the art from somewhere, then he may fashion in this world a person similar to her.") Prajapati is translated here as creator as the act of creation is ascribed to him since the very days of the Rigveda. In the different Vedas the term is sometimes applied to Indra, Savitri, Soma,

Hiranyagarbha and sometimes to the other deities. It certainly points to a state in which the deity Prajapati was just being conceived and had not yet grown to be a fullfledged personal God, in which character he appeared later. In the later period, when the Purāṇas were being composed and legends were winding round the deity in thousands, the God merges into Brahmā and both appear as one. Further later, Prajāpati signified the Rishis, the sages, who varied from seven to twenty-one in number, according to the statements of the different Purāṇas.

The siddhārtas, the Jinabara, and the Tirtheswara Śānti are mentioned in the following verses respectively :—

अज्जवि नाहु महज्जि घरि सिद्धया वन्देइ ।
ताउँ जि विरहु गवक्खेहिं मक्कउ घुग्घिउ देइ ॥ 423.3.

("My husband is still in the house saluting the holy images of Jinas (has not yet gone out in a journey), and still seperation acts like monkey (peeps inside like a monkey, through the windows.)

पेक्खेविणु मुहु जिनवरहो दीहर नयन सलोणु ।
नावइ गुरु-मच्छर भरिउ जलणि पविसइ लोणु ॥ 444.3.

("On seeing the face of जिनवर having long eyes and possessing beauty, salt is very much jealous and entires fire.")

जेप्पि चएप्पिणु सयलधर लेविणु तवु पालेवि ।
सिवु सन्तें तित्थे सरेण को सक्कइ भुवणे वि ॥ 441.2.

("Who except the तीर्थङ्कर प्रान्ति is able in this world to conquer and then abandon the whole earth, to take the vow and observe it ")

The siddhārtas, who are twenty-four in number, occupy an unique position in the heritage of Jaina religion and culture. In some manuscripts of the Kalpasutra, a detailed description of their life history occurs, while in others, only that of Mahāvira, Pārśwanath and Rishava is discussed. The western scholars, who have very little faith in the accounts of the indigenous historians, evince a tendency to reject forthwith, whatever do not appeal to their critical minds. Some of the accounts of the Kalpasutra too, have been similiarly taken to be doubtful by them. In this connection, we quote the observations of J. Stevension, which deserve a careful study." The few particulars we have of the other Tirthaṅkaras are most likely were fictions, founded on no solid traditions The only

three historical characters I conceive to be Rishabha, who practised austerities in very ancient times, which (was) in after ages imitated; Pārsvanāth, the real founder of the sect, and Mahabira who carried its principles out to their atmost limits." Introduction to the translation of Kalpasutra and Navatattva F.N.P. 99. It is needless to go into the details of their life-history, as from the context of the verse, we know nothing about them and their achievements in the history of their faith.

The word 'Jinabara' deserves a consideration here, as we cannot determine from the contents of the verse whether the poet intended some particular Tirthañkara, referred to above, or any Jain sage, who frees his mind from worldly attachments by meditation, obtains Nirvāṇa—a state of perfect bliss and perfect knowledge at death and finally reaches the highest heavens, called Siddhaśila by becoming a perfect Jina. We cannot come to any conclusion from a strey reference like this.

---

Shrī Hemchandracharya is a Shwetambar. It would be much better had the learned writer heveled references from books of Digambaras and Apabhransh or Prakrit literature also, The above article has been based mainly on Hindu-Puranas, For the clear understanding and comprehensive exposition of such subject as this, it is absolutely necessary to give quotation equally from different granthas of different philosophical Schools. —*Editor.*

# The Jain Chronology.

By
[ Syt. Kamta Prasad Jain, D.L., M.R.A.S. ]

(*Continued from Vol. XI, No. II, p 9*)

| No. | Period & Date | Events |
|---|---|---|
| 152 | 103 A. D. | The Nanjanguḍ Inscription of King Konguṇi Verma of the] Ganga Dynasty (No. 110) was inscribed in this year. (EC III). |
| 153 | | Siṃhanandi Āchārya, the preceptor of the princes Dadiga and Mādhava Konguṇi Vermā flourished, who founded the Ganga Dynasty at the instance of their preceptor. |
| 154 | 132 A. D. | Smith Gova (Gopa) son of Sīha set up an image of *Saraswatī* at the instance of the Vāchaka Āryya Deva of the Koṭṭiya gaṇa. (JA., XI. pp. 1-4). |
| 155 | 138 A. D. | Renowned Digambara Jaina pontiff Samantabhadra flourished, who travelled all over India preaching the religion of the Jinas. "It is told of him that in early life he performed severe penance, and on account of a depressing disease was about to make the vow of Sallekhanā; but was dissuaded by his guru, who foresaw that he would be a great pillar of the Jain faith." No doubt he proved to be so and was a great scholar and logician, renowned disputant and Law preacher. The Jainas believe that as a reward of his peoṅs deeds Samantbhadra will born as a |

| No. | Period & Date | Events |
|---|---|---|
| | | Tîrthankara in a future cycle of Time. [Swāmî Samantabhadra (M.G. Bombay) pp. 115 ff]. |
| 156 | Kusan Period. | A Jaina Āyāgapaṭṭa was set up at Kośāmbî (Kosam) in the reign of King Sivamitra for the worship of Arhatas by Śivapālita at the instance of Sthivirā Baladāsā, who was the female disciple of Śivanandi. —UPJS. p 25. |
| 157 | 200 circa. | Bhavaḍa an enterprising Jaina trader flourished at Kāmpilya. —SJI., II 2, p. 59. |
| 158 | ,, | "The epigraphical records.....show that until the 2nd or 3rd century A. D practically all royal and private benevolences were bestowed upon Jaina and Buddhist institutions and that patronage of Brahmanas, as such, and of Brahmanical deities did not begin until after that time. —Havell (HARI, p. 147). |
| 159 | 260 A. D. | Mayurśarmā, the descendant of Mukuṇṇa of Ahichchatra founded Kadamba dynasty at Srīparavata. —SJI, III, 2, 19. |
| 160 | 249 to 260 A. D. | Kalachŭri dynasty was founded. Most of the Kings of this dynasty patronised Jainism. —MPJS. p. 3. |

| No. | Period & Date | Events |
|---|---|---|
| 161 | 300 circa. | *Paumacariya* of Vimalasûri, the oldest Prākrata poem, assigned to this date by Prof. H. Jacobi.<br>Ref. HKL., p. 36. |
| 162 | 370 A. D. | The Matur copper-plate of Śrî Mādhava Verma of the Ganga dynasty was inscribed recording the gift of the King of the village Kumarpar to Ācārya Vîradeva of Mûlasaṃghar for the temple of Arhat at Peravolal.<br>—Ep. Car. X. No. 73. |
| 163 | | Vakragrîvācārya explained the meaning of the term 'Atha' (अथ) for six months continuously.<br>— Madras. PJS., p. 269. |
| 164 | 3rd & 4th centuries | "The capital of the Gupta emperors became the centre of Brahmanical culture, but the masses followed the religious traditions of their forefathers, and Buddhist and Jaina monasteries continued to be public Schools and Universities for the greater part of India."<br>—HARI. p. 156. |

*To be continued.*

# 'CONTEMPLATION' IN JAINA SCULPTURE.

*By*
Prof. N. V. Sarma, M. A.

It is hardly necessary to preface this short note with a warning not to be misled by the nomenclature 'Jaina Sculpture.' When we use this term it is only for the sake of convenience and with full knowledge that any such classification of Indian Art on the basis of religion is a travesty of History of Indian Art. This mistake was originally committed by Fergusson in his History of Indian Architecture. The fundamental fallacy underlying such a classification was pointed out by authoritative art—critics like Bühler, Smith and Coomarswamy. The writer of these lines had occasion to refer to this point at some length in a paper of his published sometime back in this very Journal.

The 'Yogī' type of image is common to Indian Sculpture whether inspired by Brahmanism, Buddhism or Jainism. Uudoubtedly the credit must go to Buddhism, more than Brahmanism or Jainism, for familiarising the world with this type of Sculpture. Be that as it may, this expression of contemplation in stone has evoked the unstinted praise of discriminating scholars and art-connoisseurs. Images of this type of fankly Jaina inspiration share fully the encomiums paid to this achievement of Indian Sculpture.

It is a unique feature of Indian Sculpture that it could translate into stone with equal success the dynamism and stasis of creation and eternity. The secret of the former, illustrated in the familiar figure of 'Nataraja', has only been recently mastered by European sculptors like Rodin and the contemporary artist Epstein. Perfect stasis as expressed in images in the state of 'Samādhi' is an accomplishment of Indian artists not to be met with in the works of artists of any other country. But we shall return to it presently.

Before we discuss the artistic excellence of such images we should like to draw the attention of scholars to a misconception regarding its remote origin.

Some scholars, among whom Sir John Marshall may be mentioned in patricular, try to trace it as far back as the Indus Civilization period of Indian history. In his monumental work, "Mohenjodaro and the Indus Civilization" (1931), Marshall has discussed in detail the only stone image yet discovered at Mohenjodaro which can definitely be said to be that of a deity. It is a white steatite head and bust, now about seven inches in height but once much larger as the lower part of it is missing. The peculiar half-shut eyes are regarded by Marshall to represent a state of 'Yoga' or contemplation.

It must be noted in this connection that it is a highly improbable and far-fetched suggestion. Similar eyes have been noticed in some very early clay figures from Kish and Ur. Even a superfical study of this stone image will convince any connoisseur that it is hardly the archetype of the images under discussion.

While refusing to link the tradition of this branch of Indian Sculpture we can not doubt that it had the deepest moorings in the aesthetic conception of the Indian mind, attaining perfection at the hands of Buddhist and Jain sculptors. The inherent strength of Indian art lay in the fact that, like Indian Philosophy, it had the most intimate contact with religion and life. The state of 'samādhi' translated into stone by Indian sculpturs reflects the importance which was attached to contemplation, if the word is at all capable of connoting the full implications of 'Samadhi', in the spiritual life or religions of the Indians.

We propose to base our generalisations, now, with reference to the "Āyāgapata, 'tablet of worship', with Jina", found at Mathura (circa 1st. century A.D) We shall confine ourselves to the study of the central figure, absorbed in contemplation, leaving aside the decorative designs, ornamentations, sacred symbols or the pillars which form a fitting frame-work for the central dise. It goes without saying that what is true of this figure is in a large measure applicable to most of the images of this type.

There is a plethora of platitudinous statements aboūt the spiritualism and expressionism reflected in such figures. Let us first delve into the mystery of this spiritualism of such figures. Our task will

be easier if we study one such figure closely, our preference having already been indicated.

The stasis of the figure, the cessation of all action reflected in the expression of the image, is something quite superficial. What is glibly termed as stasis is in reality, parodoxical as it might seem, nothing but extreme dynamism. This dynasism is kinetic in nature and not unnaturally quite liable to be mistaken for stasis. The muscular relaxation of the figure is almost cancelled by the half-shut eyes, tight lips and the position of the hand and feet which seem to be canalising all energy and activity inwards.

It is an astonishing feature of such images that it is these more than all other types of male figures found in Indian sculpture that exhibit the ideal proportions of a man. The broad shoulders and the slender waist approximate to modern standards for the ideal male physique even more than Greek Sculpture which is difficult to be surpassed in anatomical exactitude and attention to all that is beautiful in the human figure. The aesthetic concinnity of realism and expressionism is remarkable in such figures in general and this Jina image in particular.

Rothenstein, that superb artist and accomplished critic, is ecstatic in praise for such an exquisite plastic interpratation of spiritual absorption. In his Introduction to 'The Examples of Indian sculpture', he rightly remarks that "This concrete crystallisation of a spiritual mood was developed into a form so perfect and inevitable that it remains, after more than 2000 years, one of the most inspiring and satisfying symbols erected by man."

Jaina Sculpture had sufficient creative genius to make the people fearless of the dictum "Where there is no vision the people perish".

# THE ANCESTORS OF KHĀRAVELA.

*By*
Syt. B Kamta Prrsad Jain, D.L., M.R.A.S.

---

The Jaina King-Emperor Khāravela of Kalinga is famous equally for his quick war-compaigns, bravery, statesmanship and religious piety. But it is a pity that little is known about his ancestors. In his famous Hathigumphā inscription, he styles himself as Aira, Mahārāja, Mahāmeghavāhana, Kalingādhipati Khāravela of the third dynasty of Kalinga, which was established by King Cheta or Chaitra[1]. In the last line of the said inscription, it is mentioned that Khāravela descended from a family of the dynasty of royal sages[2].

The late-lamented MM. Dr. K. P. Jayaswal wrote about Khāravela's dynasty that :—

"The name of the dynasty of Khāravela is after his predecessor Cheta-Rāja, King Cheta (or Chaitra). We cannot be sure that Khāravela was King Cheta's son; we can only say that he belonged to Cheta's family and was a successor to him. As Mr. Banerji points out in his note, '*Khāravela's Kula*' (family) is described in the last line of the inscription; 'to have come out of a Rāja-rishi stock.' This denotes that King Cheta's family must have been a branch of some well known dynasty of the Aryavarta. This leads me to suspect that *aira* might be representing *aila*, the famous dynasty of early Hindu India. King Cheta must have flourished between the death of Asoka and the Yuvarāja rule of Khāravela, 182 B.C."[3]

Later on however Dr. Jayaswal altered his reading and read the word "Cheta" as "Cheti" and declared that King Khāravela belonged to Chedi family of Dakṣiṇa Kauśala. Be that as it may; but, however, the literary evidence corroborates Dr. Jayaswal's earlier reading, according to which it was established that Khāravela was styled as

---

1. ऐरेन महाराजेन महामेघवाहनेन चेतराजवसवधनेना..... कलिंगाधिपतिना सिरि खारवेलेन।

2. राजसि-वस-कुल-विनिस्रितो।

3. The Journal of the Bihar and Orissa Research Society, Vol. III, pt. IV, p. 435.

'Aira', being the scion of the famous dynasty of Aila and was a descendant of King Cheta or Chaitra. It is evident from the Jaina '*Harivaṁśa-purāṇa*' that King Abhichandra, who was a descendant of King Aileya of Harivaṃśa, founded Chedi-rāṣṭra near the Vindhyāchala mountain. His queen Vasumati was from the Ugra-vaṁśa and he was succeede by his son Vasu, who violated the vow of truth and intrepreted the meaning of word 'aja' in a wrong manner, which brought-forth the innovation of bloody sacrifices[4]. Thus the connection of Chedi rāṣṭra with Aileya (= Aila?) is apparent and as such it is more probable that our King-Emperor of Kalinga might have been styled as 'Aila' since he is said to belong to Cheti or Chedi dynasty. Most of the descendants of King Aileya adopted the vows of a naked Jaina Śramaṇa in their after-life[4] and hence their dynasty is rightly styled as a family of royal sages. But, however, it has been contended elsewhere and said that "the intention of using two words 'vasa' and 'Kula' in 'Rājasi-vasa-kula-vinisrito' is not understood unless 'vasa' is taken to be the name of a person. Certainly we do find an illustrious emperor Vasu by name in the Chedi country[5]." In the 'Mahābhārata' (Ādiparva, Ch 62) he has been styled to be a Rājaṛiṣi and hence it can be probable that he is identical with the person seems to had been named in the above line of the Hāthigumphā inscription. Ofcourse, the Jaina tradition do not hold King Vasu in veneration; although he is described in it also as a powerful and illustrious King. It is with regard to his after-life the Jainas disagree. But we must not forget that King Khāravela is mentioned in the inscription as 'a King who respects every sect.' (सब पासंड पूजको). In the begining of Hathigumpha inscription he seems to have been compared with King Veṇa, who was converted to Jainism and was not held in high esteem by the Vedic Brāhmanas[6] and in the closing line probably Khāravela is connected with King Vasu of Chedi family, who was his kinsman. It is apparent from the Jaina Harivainśa purāṇa that Vasu was the son of the founder of Chedi-rāṣṭra and a famous King of that line, as

4. Harivaṃśapurāṇa, Ssrga XVII, Sl. 1-39 and my article in the JBORS., XV. 277-278.

5. JBORS., XVI, p. 193.

6. Padmapurāṇa, Bhûmikhand, ch. 37-38.

referred to above. If we accept this hypothesis than it becomes clear that King Khāravela was a descendant of King Vasu, who belonged to the famous dynasty of King Aileya and was the son of Abhichandra, who established Chedi-rāṣṭra.

Khāravela's epithet of Mahāmeghavāhana also denotes this very thing; for, it is obvious from the Hindu Purāṇas that there once ruled a dynasty at South Kauśal, which was known as Meghas. (मेघा इति समाख्याता:)[7]. In the Jaina tradition as well, the Meghavāhana Kings are said to have ruled in South India[8].

Now let us see, if there is any reference in literature about Khāravela's ancestor King Cheta or Chaitra. In an Oriya Kāvya namely 'Prāchî-Mahātmya', the story of a Chitra Chāḍāla is given[9]. It is told in it that Chitra Chāṇḍāla founded a village on the bank of the river Prāchî in Kalinga. He was devoted to all *Janas* and married a Brāhmaṇa girl by name Utapala; but luck did not favour him and he had no son. The couple died without any issue, who could have succeeded them. They were so very remembered by the people that the river came to be known as 'Chitrotapalā" in the whole country of *Utkala*. 'Chitraka" and "Utpala" *lingas* were established on its both banks and the water become sacred. It is commented upon this story that :—

"Now let us see what is meant by the word 'Chāṇḍāl' used as a qualifying epithet after 'Chitra', when he is introduced in the Prāchî Mahātmya. Surely it has not been used to convey the sense of contempt or to emphasize low origin, as the idea of holiness and reverence associated with his name is too apparent in the subsequent passages to admit of it.....On the whole, his life was so spotless that even the orthodox Hindu author of Prāchî Mahātmya could not help breathing a breath of admiration over it .....Buddhist of Orissa were divided into three sects one of which was being called "Chāṇḍāla." It is pretty certain that the word "Chāṇḍāla" appearing after 'Chitra' has been used in this technical sense and is intended to signify his non-Vedic faith. Chitra was devoted to all *Janas*. It is highly probable that the author of Prāchî Mahātmya actually used "Jina", which in course of time when the

7. JBORS., III. 483.
8. Nāyakumāracariu (Karanja), pp. 85-86.
'दाहिणमहियलि वड्ढियविसय ।'
मेहउरि मेहवाहणु णरिंदु-पिय मेहवाल रइकइयवाल
9. JBORS., XVI. 194-195.

people at large forgot all about its technical or real significance, the subsequent Mss. writers changed it into "Janas". In any case, it is beyond doubt that Chitra had a strong inclination towards Jainism and most probably was a Jaina himself.....it appears that towards the end of the 13th. century A. C. the people of Orissa at large forgot all about the nice distinction between Jainism and Buddhism and began to classify the followers of both the faiths, together under the general category of Buddhist[10]."

Viewing the above assertion, it seems to be the fact that Chitra of the Prāchî Mahātmya was a Jaina devotee and a ruling chief as well. As such, his being identical with Cheta or Chaitra, who was an ancestor of Khāravela is possible. In the Jaina tradition we find that among the devout Vidyādharas of the Jaina persuasion there were also those who were styled "Chāṇḍālas" or "Mātangas"[11] and so Chitra, being devoted to the Jinas and being perhaps connected anyhow with the Vidyādharas, is styled as Chāṇḍāla. Details of the Prāchî Mahātmya, ofcourse, cannot be treated as historical facts.

The Jaina tradition also comes forward to vouchsafe the story of Chitra. In the Jaina literature we find a work namely 'Chitrasena-Padmāvati-Charitra", in which the story of Prince Chitrasena is narrated. He was the son of King Virasena of Vasantpura Paṭṭana in the country of Kalinga[12]. His intimate friend was the minister's son Ratnasāra. However the King got enraged wtth his son Chitrasena and in a fit banished him from his country. Ratna-sāra, as a true friend, accompanied him to the forest. While roaming about in the forest they went to a Jina temple; in which Chitra saw a beautiful image of a blooming princess, whom he resolved to marry. Ratnasāra helped his friend and having come to know from an omniscient saint that it is the image of princess Padmāvatî who is the daughter of

---

10. Ibid.

11. Harivaṁśapurāṇa, Sarga 26 ślokas 14-24. It seems that Chitra ruled over these Vidyādharas and so he was styled 'Chāṇḍāla.'

12. 'वसुधातलविख्यातो देशो नाम्ना कलिङ्गकः ।'

× × ×

'तत्रास्ति क्षिति शृङ्गारं वसन्तपुरपत्तनम् ।'

× ×

'उदारमानसस्तत्र वीरसेन नरेश्वरः ।'

—इत्यादि

King Padmaratha of Ratnapura they proceeded thither However the friends managed to get the princess Padmāvatī married to Chitrasenā in an open Suyamvara. As the identity of Chitra was not known to the Kings and princes assembled, they, challanged him and exchanged swords blow with him. In his roamings Chitra encountered Vidyādharas and got a few 'Spells' (Vidyās) from them. It was with the help of those *Vidyās*, he came out successful in the skirmish and his identity was disclosed. He went back with Padmāvatī to Vasantpura, where his father installed him on the throne, and he himself became a Jain monk, when Tîrthankara Mahāvira happened to visit the town of Vasantpura. Thence-forward, with Ratnasāra as his minister, Chitrasena ruled over Vasantapura. "He always strove to do good to his people and led a pious life full of meritorious deeds such as charity, worship of the Jinas and the like." Once King Chitra heard that Siṃhaśekhara of Siṃhapura had revolted and waylaid travellers, he became enraged and marched against the offending chieftain. While he was encamped near Daṇḍaka forest, he encountered with Hemamālî and Ratnacûda Vidyādharas. Ratnacûḍa was overpowered by him and presented him a magic cot which flew in sky and a rod that could kill and bring again to life anybody. Then Chitra resumed his march against his enemy, the King of Siṃhapura and conquered him with the help of the magic rod. He appointed Siṃhaśekhara as his governor in Siṃhapura and returned to his capital. He passed his remaining life in observing the twelve vows of a Śrāvaka with his wife Padmāvati and they always paid homage to Jaina Śramanas. Queen Padmāvatī was renowned for her vow of chastity, for which she went through an ordeal successfully. With the help of the magic cot, they visited various Tîrthas. One day King Chitrasena paid homage to sage Damasāra and listened to his sermon. Truth went through his heart and he renounced the world. His son Dharmasena succeeded him. Queen Padmāvatī and Ratnasāra also joined the Order and in due course they all attained Nirvāṇa. Such is the purport of the story of Chitrasena and Padmāvatī.

It is obvious from it that King Chitrsena of Vasantapura was a ruling chief in the country of Kalinga itself and as such he can be identified with Cheta or Chaitra Rāja of the Hāthī-Gumphā ins-

cription. It was his territory which Khāravela increased for which he was styled as 'Chetarāj-Vasa-Vadhana.' Moreover the following facts also lead us to and substantiate our this finding :—

1. Chitra was the prince of the ruling chief of Vasantapura-pattana, which was situated in Kalinga and was a famous port. It was located either on the bank of a river or on seashore[13]. Hence it was but natural for Khāravela, the descendant of Chaitra to expand his ancestral dominion. We have a parallel example of this fact in the person of King Śrenika Bimbasāra of Magadha; whose ancestors ruled from a small hamlet in the country of Magadha, yet he succeeded in founding the big and strong empire of Magadha[14]. Similar seems to have been the case with Khāravela, whose ancestor Chitra or Cheta ruled from Vasantapura, but Khāravela made great achievement, for which he came to be known as "Kalinga-Chakra-varti."

2. Chitrasena was connected matrimonially with the King of Ratnapura. This Ratnapura, if identified with its namesake in the territory of Kalachûri Kings[15], then ofcourse we have reason to believe that Chitra can be identified with Chetarāja; since we know that Khāravela had ancestral relations with Southren Kausala, where the Kalachûri Kings ruled and where Ratnapura was situated in Chedi-rāṣṭra.

3. The fact that Chitrasena subdued Simhaśekhara of Simhapura, justifies our identification of Chetarāja with Chitrasena, since we know that Khāravela is also described as to have made a similar encounter with the ruler of Simhapur and married his daughter[16].

13. 'तत्रास्ति क्षिति शृङ्गारं वसन्तपुरपत्तनम् ।'
'यत्र काशः सरित्तीरं कलियंत्र वनान्तरे ।'

Epithet of 'Pattana' denotes that it was a port.

14. Early History of India, p. 33.

15. Bhārata ke Prāchîna Rājavaṁśa, I, 56. Ratnapur was the capital of Kalachûri Kings in mediaval period; but it seems that it had been a seat of ruling chiefs since an ancient period.

16. "It was apparently a princess of this Kingdom .... that Khāravela of Kalinga married. In such a case Simhapura would be the capital of the Gangetic Kalinga."

—Some Contributions of South India to Indian Culture, p. 34.

JBORS, IV, 378.

Thus the relations with Simhapura of the dynasty of Khāravela were of remote period. Simhapura was situated in the tract of Gangetic Kalinga.

4. Lastly the religious belief of Chitrasena and his observance of vows befittingly illustrate the life of Khāravela; for, he was also a follower of Jainism like Chitrasena and observed the vows. Ofcourse Chitrasena adopted the life of a Jaina monk and became a Rājaṛiṣi. So rightly is styled his family as 'a dynasty of royal sages' in the Hathī-gumphā inscription.

Therefore we are justified to identify Chitrasena of Jaina tradition with Chetarāja or Chaitrarāja, the ancestor of Khāravela. The Prāchī-mahātmya also corroborates this conclusion.

# SOME EPIGRAPHIC EVIDENCE BEARING ON THE ŚVETĀMBARA AND DIGAMBARA DIVISIONS.

*By*

[ Syt. K. D. Bajpai, M. A., ]

Curator, Curzon Museum, Muttra.

---

Although according to the Jaina semi historical tradition there had already appeared a division in the Jaina community as early as the fourth century B. C. which became almost manifest by the end of the first century A. D. in the form of two sub-sects Śvetāmbara and the Digamabara, yet as far as the epigraphic evidence is concerned we do not find this difference pronounced for a long time. Even granting that there was a divergence between the two sects in the early centuries of the Christian era it may be observed that for a long time the difference remained nominal. It was only in the late Medieval period that the gulf between the two became wide enough so much so that each of them began to mention its name on record in order to claim its clear cut distinction from the other. The inscriptions where an explicit reference to this distinction can be sought are all later than the 9th century A. D. I shall briefly deal here with such epigraphic data which throw light on this important problem of Jaina religion.

In the provincial Museum, Lucknow, there are two colossal Tīrthaṅkara images exhibited in the Jaina Hall. They were both discovered from the Kankali Tila, Mathura. Both the Tīrthaṅkaras are seated in Dhyānamudrā. The first image (No. J. 143) dated in Vikrama Saṁvat 1038 (=981 A. D.) is complete and well-preserved while the second (No. J. 145) dated in V. S. 1134 (=1077 A. D.) has both its arms broken. The inscription on the pedestal of the first image (J. 143) reads as follows :—

संवत् १०३८ कार्त्तिकशुक्ल एकादश्यां
श्री श्वेताम्बर [माथुर] संघेन पश्चिम.....
कार्या श्री देवनिर्म्मित प्रतिमा प्रतिष्ठापिता ।

The inscription on the 2nd (J. 145) image runs as below :—

संवत् ११३४ श्रा स्वेतांबर श्री माथुरसंघ
श्रीदेवनिर्मितप्रतिमा कारितेति ।

From both these inscriptions it is clear that there was a group of people at Mathura known as the Māthura Saṁgha (माथुर संघ) which was follower of the Śvetāmbara branch of Jainism. By this Māthura Saṁgha were these two images installed in the temple which was then located in the central of the present Kankali Tila where these images have been found. The first image was set up in 981 A. D. while the second was installed in 1077 A. D., thus the difference of time between the two being 96 years. It is interesting to note that both the images are called *Śrīdevanirmita* which would literally mean 'made by Śrī Deva.' In view of the fact that there is a long difference of 96 years between the two, as is clear from their inscriptions, it seems improbable how one and the same sculptor made both these images. Apart from the difference in their bodily structure there can be observed some distinction in paleography also of the two inscriptions which are engraved on the pedestals of these images. It is, therefore, more likely that the two images were incised by two different sculptors in different periods, or it may be suggested that the phrase *Śrīdevanirmita* should be taken to mean *Śrīdevāyanirmita* or Śrī Devasya nirmitā, that is, made in honour of Śrī Deva (Jina).'

From the archaeological explorations carried at Kankali Tila, Mathura, in 1888-91 it has come to light that from about the beginning of the 10th century A. D. there was distinct separation between the two sects of the Śvetāmbaras and the Digambaras, who had their temples side by side in the present Kankali mound. The first invasion of Mathura by Muslims[3] under Mahmud of Ghazni took place in A. D. 1018. The first image described above was installed 37 years before while the second was installed 59 years after this invasion. It apears that the Muslims allowed the temples of the Śvetāmbaras and the Digambaras to exist for some time more after their first onslaught.

We find another reference to the Śvetāmbara sect in an epigraph from western India, which is almost contemporary to the records mentioned above. In the Kalavan (Nasik dist., Bombay Presidency) plates of the time of Paramāra Bhojadeva I and his feudatory

Yaśovarmman dated 1048 A. D.[1] it is stated that one chief named Rāṇaka Amma of Gaṅga family, after hearing from illustrious Ammadeva Āchārya of the Śvetāmbara sect about 'the *dharma* and *adharma* and also having been convinced that this particular *Jina dharma* [Śvetāmbara] is superior to other *dharmas* in this and the other world in producing good results, made a donation of land on the occasion of a solar eclipse... .. ..after having washed the feet of the Jina with water from hands of his wife, queen Chachchai, who was born in the Chālukya family He also made a perpetual endowment in coin and kind for repairs of a Śvetāmbara temple in honour of Muni Suvratadeva. The relevant portions of the inscription are given below.

श्री अम्मराणकेन श्वेताम्बर श्री अम्मदेवाचार्य मुखाख्यात धर्म्माधर्म्मागमवाक्यप्रबोधित-चित्तेन मुख्यजिनधर्म्ममन्यधर्म्मादिहपरलोकशुभफलदानमि। विचिन्त्य जातमनसा ..... .. .. ..... श्रीकलकलेश्वरं पुण्यतीर्थे..... सूर्यग्रहणे..... ..... चालुक्यान्वयप्रसूतधर्म्मपत्नी श्री [illegible]बाई राज्ञी करगृहीत निक्षिप्तजलेन पादौ प्रक्षाल्य भूमिरियं दत्ता। ..... ..... लुप्तजीर्णोद्धारं कृतं आचन्द्रार्क्ककालं यावत् श्वेतपट[2]-जिनालये श्रीमुनिसुव्रतदेवाय निवेदिता।

Not only the Śvetāmbaras but also the Digambaras freely used to mention the name of their sect on records which can be dated from 10th. century onwards To quote an instance, in the famous Sāsbahū temple of Gwalior there is an inscription of Kachchhapaghāta Mahīpāladeva, in which it has been stated that the epigraph in question was composed by Maṇikaṇṭha Sūri, son of Govinda and grandson of Rāma and was written by his friend *Digambara* Yaśodeva, who is eulogized as a good poet of all languages—

प्रतापलङ्केश्वरवाग्द्वितीयां बिभ्रत्सुहृत्तां मणिकण्ठसूरेः।
अशेषभाषासुकविर्लिलेख वर्णान्यशोदेव दिगम्बरार्कः॥

The inscription is dated in V. S. 1150 (=1093 A. D.)

There *is another inscription on a fourfold Tīrthaṅkara* (सर्वतोभद्रिका) image discovered at Kaṅkali Tila and now deposited in the Lucknow

1. Edited by R. D. Banerji in *Epigraphia Indica*, vol. XIX, pp., 69-75.

2. Mr. R. D. Banerji reads it as *Śvetapada* and takes it as the name of the country round about Nasik. But, as Dr. D. R. Bhandarkar rightly points out (*List of Brahmi Inscriptions*, no. 2085, f. n) the term is *Śvetapaṭa* (=Śvetambara) and not *Śvetapada*.

Museum. It was dedicated in V. S. 1080 (=1023 A. D.). Though it is not mentioned in the inscription as to who installed the image but from its makeup and its find-spot it is clear beyond doubt that the image was set up by the Digambaras at the site of whose ancient temple it was found.

In the vast number of Jaina images and stray records of Kushāṇa, Gupta and Early Medieval periods we do not find such reference to Śvetambara or Digambara schools which may warrant us to prove any striking division in the Jainism. It is only from the 10th. century onwards that we find in epigraphic sources the divergence between the two schools growing wider and more complicated. In this respect Jainism offers a contrast both with the Hinduism and the Buddhism where a number of sects and subsections sprang up even from the early centuries of the Christian era and their distinctive elements were explicitly pronounced in the contemporary general literature and inscriptions.

## REVIEW.

*Jinaratnakośa*, (Vol. I) Prof. H. D. Velankar. The Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona; 1944. Price Rs. 10/-. pp. 466.

An alphabetical register of Jain works and authors in the lines of the well-known *Catalogus Catalogourm* by Th. Aufrecht was a desideratum. Late-lamented Kumār Devendra Prasad of Arrah endeavowed for it and gathered many an index of various Jaina Bhandārs; but he could not complete it Now this very valuable work has been done by Prof. Velankar. He worked hard for full 20 years and have achieved success. The vast field of Jain Literature still requires search. Old Bhandaras are to be opened and examined. But the pity is that no constitutional effort for this is being done by the Jainas; they have been indifferent to this vital necessity and failed to get compiled an exhaustive *Catalogus Catalogourm* of the extant Jain Works. Recently Pandit Jugal Kisorji is endeavouring in this respect and we hope, his efforts will crown with success. In such conditions Prof. Velankar's work is most welcome, as it will help scholars in the study of Jainism. In it Jain works in Sanskrit and Prakrata are recorded alphabetically, with the information of their respective location and publication. Some works of Hindi and Kanarese are also named in it. Although this work is not an exhaustive treatise on the subject, yet it is first of its kind. Many Jain works, mostly Digambara ones, are omitted in it. But on the whole the work is most commendable and it can be said that by its compilation Prof. Velankar has rendered a great service to Jainism. He deserves our heartiest congratulations.

—K. P. Jain.

# जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में दो बार प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ३) और विदेश के लिये ३॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो, तो इसकी सूचना शीघ्र कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिकरूप से केवल जैनधर्म की उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं —

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.
प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट.
बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस., डी.एल.
पण्डित के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.
पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ, साहित्यरत्न

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD.
ARRAH.